गायत्री योग

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो
देवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्

वी० पी० द्वारा पुस्तके मँगाने का पता
भारत बुक एजेन्सी
4163, नई सड़क दिल्ली-6

गायत्री योग

[गायत्री-मन्त्र-योग से सर्व-कामना-सिद्धि और
मोक्ष-प्राप्ति विषयक विवेचनात्मक
अभूतपूर्व ग्रन्थ]

★

सम्पादक :
डॉ० चमनलाल गौतम
रचयिता—मन्त्र महाविज्ञान, तन्त्र महाविज्ञान, उपासना
महाविज्ञान, शिव-रहस्य, देव रहस्य, मन्त्र योग,
मन्त्र शक्ति से रोग निवारण, कामना सिद्ध
प्राणायाम के असाधारण प्रयोग आदि

★

प्रकाशक :
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, वेदनगर, बरेली-२४३००१ (उ. प्र.)

प्रकाशक :
डॉ. चमनलाल गौतम
संस्कृति संस्थान
ख्वाजा कुतुब, (वेद नगर)
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)

*

लेखक :
कविराज दाऊदयाल गुप्त
मथुरा.

*

द्वितीय संस्करण : १९७८

*

सर्वाधिकार : प्रकाशकाधीन

*

मुद्रक :
कान्ता प्रिंटिंग प्रेस
जनरल गंज, मथुरा ।

*

मूल्य :
छः रुपये मात्र

भूमिका

गायत्री वह विद्या है, जो सर्ग से पूर्व ब्रह्म में अपरोक्ष भाव से विद्यमान रहती है, इसीलिए इसे 'ब्रह्मविद्या' या 'महाविद्या' भी कहते हैं। प्रलय काल में जब परमात्मा शयन किए रहते हैं, तब यह उनकी आह्लादिनी शक्ति के रूप में जागती रहती है और जब जाग्रत होते हैं, तब उनकी बहुत होने की इच्छा में यही अपना सहयोग देती है।

गायत्री रहस्योपनिषत् के अनुसार गायत्री के चौबीसों अक्षर सर्ग रूप में प्रयुक्त होते हैं। 'भू:' से भूलोक, 'भुव:' से आकाश 'स्व:' से स्वर्ग 'मह:' से महर्लोक; 'जन:' से जनः लोक, 'तप:' से तपोलोक और 'सत्य' से सत्यलोक की विद्यमानता सिद्ध होती है। 'तत' से तेजोमय अग्नि 'सवितु' से सूर्य, 'वरेण्यम' से प्रजापति ब्रह्मा, 'भर्गः से जल, 'देवस्य' से इन्द्र, 'धीमहि' से अन्तरात्मा 'धिय:' से अन्य अन्तरात्मा (ब्रह्म), 'य:' से सदाशिव, 'न' से निज स्वरूप और 'प्रचोदयात्' से प्रेरणा का बोध होता है।

गायत्री की चार कुक्षियाँ हैं—प्रथम पूर्व दिशा, दूसरी दक्षिण दिशा, तीसरी पश्चिम दिशा, और चौथी कुक्षि उत्तर दिशा है। इस प्रकार गायत्री विद्या ही सर्ग विद्या है। गायत्री के प्रत्येक अक्षर में सृष्टि की रहस्यमयी प्रक्रिया भरी पड़ी है तथा इस विद्या का स्रोत अनादि है। यह कोई नहीं जानता कि यह विद्या कब से चली आरही है।

इसके बाद आदि में प्रणव या ओंकार का होना, इस तथ्य का सूचक है कि गायत्री में कोई अन्तर नहीं है। क्योंकि प्रणव ब्रह्म का ही वाचक है। 'अमृत वै प्रणवः' (गोपथ ब्राह्मण) के अनुसार प्रणव अमृत है और प्रकार गायत्री मन्त्र की भी नित्यता सिद्ध होती है।

वैज्ञानिकों की इस मान्यता का भी इस ग्रन्थ में उल्लेख किया है कि मनुष्य के मस्तिक एवं बुद्धि का उद्गम स्थान प्रकृति के सामूहिक

मस्तिष्क अथवा मन में सन्निहित है और इससे इलेक्ट्रोन के रूप में शक्ति प्राप्त होती रहती है। इसलिए गायत्री मन्त्र में 'सवितुः' शब्द से जिसकी उपासना की जाती है, वह सूर्य से सम्बन्धित है और सूर्य एवं ब्रह्म में अभिन्नता है। सूर्योपनिषत् में स्पष्ट कहा गया है कि, सूर्य से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, सूर्य ही सब का पालन करते हैं और अन्त में सब प्राणी लीन हो जाते हैं। जो सूर्य है, वह मैं हूं अर्थात् सूर्य और आत्म रूप ब्रह्म में अभिन्नता है।

'धीमहि' शब्द का यथार्थ अर्थ है--परमात्मा का निश्चय करके प्रेम सहित उसका ध्यान करना। वस्तुत ध्यान अष्टाङ्ग योग की सातवीं क्रिया है, यदि उसकी सिद्धि नहीं होती तो उसके आठवीं क्रिया समाधि की भी सिद्धि नहीं हो सकती और समाधि की सिद्धि नहीं, तो समूची योग-क्रियाएँ ही व्यर्थ हो जायगी।

ध्यान के लिए संयम मन का आवश्यक है। इसकी स्थिति उत्पन्न करने के लिए शारीरिक शक्तियों को सुलाकर मानसिक शक्तियों को जगाना होता है। ऐसा होने पर ही साधक यथार्थ तत्व का विचार करता हुआ उसी में तन्मय हो जाता है, तभी ध्यान की अवस्था उत्पन्न होती है।

गायत्री मन्त्र में 'धियः' शब्द का समावेश है, जिसका ठीक अर्थ 'बुद्धि' है। परन्तु, इसे कर्म और वचन का प्रतीक भी मानते हैं। इसका अभिप्राय उस साधन से भी है जो कि साधक को परमात्मा की शरण में ले जाने में सहायक सिद्ध होता है।

'प्रचोदयात्' शब्द का अर्थ है—प्रेरण करना। वह प्रेरण, जिसके द्वारा श्रेष्ठ वरण और अशुभ कर्मों का निवारण। इस प्रकार यह शब्द साधक को पुरुषार्थ की ओर प्रेरित करता है। वे पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के भेद से चार प्रकार के माने गये हैं।

प्रस्तुत पुस्तक में उक्त पद्धति के अनुसार पृथक्-पृथक् शब्दों के पृथक्-पृथक् अर्थों का प्रतिपादन किया है, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि

उसमें ज्ञान कर्म और उपासना का पूर्ण रूप से समावेश है ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञान को ही ब्रह्म-ज्ञान कहते हैं, उसकी प्राप्ति होने पर ही मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। सभी वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति, दर्शन आदि सभी के द्वारा उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। और गायत्री मन्त्र से भी यही सिद्ध होता है।

सभी वेद शास्त्रों के मत में उपासना के द्वारा मनुष्य को सभी वांछित लाभ मिल सकते हैं। धन, ऐश्वर्य, सुयश पद, स्त्री, पुत्र, भृत्य वाहन, आदि ऐसा कौन सा पदार्थ है, जो उपासक को न मिल सकता स्वर्गादि उच्च लोकों की प्राप्ति भी उपासना के बल से हो सकती है।

देवता, विष्णु, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र, मरुद्गण, वायु, अग्नि आदि सभी देवी-देवता उपासकों से ही प्रसन्न होकर उपासक को इच्छित वर प्रदान करते हैं और गायत्री मन्त्र में तो सबसे अधिक शक्ति है। उसमें जिस कामना का समावेश है, वह अकेली ही सभी प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है। इसलिए गायत्री से बढ़कर अन्य कोई साधना अधिक फलवती नहीं हो पाती।

गायत्री मन्त्र में सत्कर्मों की प्रेरणा निहित होने से उसका अंतिम फल ईश्वर-प्राप्ति ही है। क्योंकि उसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और आराधना तीनों का ही समावेश है। जिसके द्वारा परमात्मा के गुणों का वर्णन होता हो वह स्तुति, जिसके द्वारा कुछ याचना की जाती हो वह प्रार्थना और जिसके द्वारा ईश्वर में तन्मयता प्राप्त होती हो वह आराधना कहलाती है और गायत्री मन्त्र और उसके द्वारा की जाने वाली साधना स्तुति, प्रार्थना और ईश्वर में तन्मयता, इन तीनों का संगम रूप है। अर्थात् ऐसा अन्य कोई मन्त्र नहीं है, जिसके द्वारा स्तुति, प्रार्थना और ईश्वर में तन्मयता की सिद्धि हो जाती हो। इसलिए गायत्री के साधक को अपनी साधना से बहुत बड़ी सिद्धि मिल सकती है।

गायत्री और गुण-कीर्तन

अनेक विद्वान् उपासकों के अनुसार भगवान् के गुणों का कीर्तन करने से साधना की सिद्धि शीघ्र होती है। परन्तु गुण-कीर्तन में भाव की तन्मयता अपेक्षित है, जो कि गायत्री मन्त्र के साधनों को सहज रूप से प्राप्य है। वेद, पुराण तथा अन्यान्य सभी शास्त्र भगवान् के गुणों का कीर्तन करते हैं और श्रोता या अध्येता उसके प्रभाव से ही मोक्ष-प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है।

गायत्री मन्त्र के "धियो यो न प्रचोदयात्' वाक्य का अर्थ है 'हमारी बुद्धियों को सत्कर्मों में प्रेरित करें।' यह वाक्य प्रार्थना-परक है। इसमें याचना भरी है कि हमारी बुद्धि को अशुद्ध कर्मों से हटाकर शुभ कर्मों में योजित कीजिए। हमें आश्वस्त कर दीजिए कि अशुभ कर्मों से हमारा शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार का उत्थान नहीं हो सकता। ऐसा आश्वासन हमें आगे बढ़ने में बहुत सहायक सिद्ध हो सकता है।

ऐसे आश्वासन का आधार हमारा आन्तरिक विश्वास ही है। 'धियो यो न प्रचोदयात्' में जो प्रार्थना और याचना भरी हुई है, वह निश्चय ही उस प्रकार का विश्वास भर देती है और वह विश्वास ही भगवान् की ओर से प्राप्त आश्वासन है।

गायत्री मन्त्र की सूक्ष्म तरंगे

गायत्री मन्त्र की तरंगों में अत्यन्त सूक्ष्मता विद्यमान है। जब गायत्री-गायक लय-बद्ध मन्त्रोच्चार करते हैं, तब उससे अलौकिक और सूक्ष्म तरंगें निकलती हुई वातावरण में व्याप्त हो जाती हैं, जिनके कारण प्रकृति में हलचल उत्पन्न हो जाती और ईथर तत्व में व्याप्त तरंगें इन तरंगों के साथ मिलकर एक शक्ति-पुन्ज का रूप धारण कर लेती हैं। इन शक्तियों को साधक चुम्बक के समान अपनी ओर आकर्षित करता है, जिसके कारण वे शक्तियां उसके शरीर में उसी प्रकार भरती चली

जाती हैं, जिस प्रकार कि किसी बैटरी में विद्युत्-ऊर्जा का समावेश।

गायत्री मन्त्र की शक्ति के द्वारा जब अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियों को पकड़ कर जगाया जाता है, तब वे प्राणवान् होकर क्रियाशील हो जाती हैं। उनकी क्रिया सर्व प्रथम साधक पर ही होती है। जैसे कि किसी सोये हुए पुरुष को कोई अनजान मनुष्य जगा डाले तो वह जगाने वाले के प्रति रोष प्रकट करता है, चाहे वह रोष प्रकट हो अथवा मन में ही छिपा लिया जाय।

उसी प्रकार जब वे चेतना ग्रन्थियाँ जगायी जाती हैं, तब साधक पर ही आक्रमण कर बैठती हैं और यदि साधक उस समय सावधान नहीं रहता तो उसे हानि हो सकती है। शास्त्रों के अनुसार वे ग्रन्थियाँ उस समय साधक को विभिन्न रूप दिखाती हैं, जिनमें ऐसे भयंकर रूप भी हो सकते हैं कि जिन्हें देखकर साधक भयभीत होने का अर्थ होता है—साधना की समाप्ति कभी कभी इस प्रकार भयभीत होने के कारण शारीरिक और मानसिक क्षति उठानी पड़ती है।

परन्तु, जो साधक उन ग्रन्थियों के आक्रमण से भयभीत नहीं होते, वे उन्हें अपने वश में कर लेते हैं। उस स्थिति में वह वशीभूत हुई ग्रन्थियाँ जब सिद्धियों का रूप धारण कर लेती हैं, तब उनसे डरने का कोई कारण शेष नहीं रहता। विशेष कर गायत्री का साधक अपने मन्त्र से अधिक तादात्म्य प्राप्त कर लेने के कारण उन ग्रन्थियों को शीघ्र वशीभूत कर लेने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार गायत्री मन्त्र की अधिक शक्ति की सिद्धि होती है।

स्वामी विवेकानन्द ने गायत्री को सद्बुद्धि का सरल मन्त्र मानते हुए इसके द्वारा सद्धर्म और सत्कर्मों की उपलब्धि और सब प्रकार के सुखों की सहज प्राप्ति होना बताया है। स्वामी रामकरण परम हंस के अनुसार गायत्री के जप से साधक को अत्यन्त शक्ति-सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

महर्षि दयानन्द भी गायत्री मन्त्र की उपासना करते थे। एक बार उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि गायत्री मन्त्र के अर्थ पर विचार करना आवश्यक है प्रार्थना के ऐसे मन्त्र की गहनता और सत्यता अन्य किसी मन्त्र में उपलब्ध नहीं होती।

गायत्री में सभी देवताओं का निवास

गायत्री हृदय में सावित्री के शरीर का जो वर्णन मिलता है। उससे स्पष्ट है कि गायत्री के शरीर में सभी देवता समाविष्ट हैं अथवा यों कहिये कि सभी देवताओं के सम्मिलन से गायत्री का शरीर बना है। उसके अङ्ग-प्रत्यंग का निर्माण एक-एक देवता से हुआ है और उन-उन देवताओं की शक्ति गायत्री के उन-उन अंगों में भरी हुई हैं, जिनसे वह अंग बना है। इस प्रकार गायत्री में सभी देवताओं की पूरी शक्ति और सामर्थ्य भरी हुई है।

यही कारण है कि गायत्री के उपासक को सभी देवताओं से सम्बन्धित अनेकानेक मन्त्रों के फल की सिद्धि बिना किसी प्रयास के स्वतः ही हो जाता है। गायत्री सभी संचित और किये जाते हुए पापों को भी दूर करने में समर्थ है। 'मुच्यते सर्व पापेभ्यो गायत्र्याश्चैव जापनात् (संवर्त स्मृति) अर्थात् 'गायत्री का जप करने से सभी पापो से छुटकारा हो जाता है और जब पापों से छुटकारा हो गया, तब मोक्ष में भी क्या बाधा उत्पन्न हो सकती है?

गायत्री मन्त्र की शक्ति के सामने बड़े-बड़े वीर शत्रु भी नहीं ठहर सकते। प्राचीन काल में मन्देहा जाति के राक्षसों का वर्णन मिलता है, जो कि पूर्णतया अजेय समझे जाते थे। परन्तु गायत्री की शक्ति के समक्ष भी नहीं ठहर सके। वे सभी मन्देहा राक्षस गायत्री मन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित जल की अंजुलियों में नष्ट हो जाते हैं।

गायत्री स्वयं में एक पूर्ण मन्त्र है। यह एकाकी ही मनुष्य को चमत्कारिक उपलब्धियाँ उपस्थित करने में समर्थ है। यदि इसका निर-

न्तर धैर्यपूर्वक विधिवत् साधना किया जाता रहे तो इच्छित सफलताएँ शीघ्र ही प्राप्त होने लगती हैं।

वर्तमान युग का मनुष्य जप, तप, पूजन, भजन, पाठ, गायन आदि सभी में सरल प्रक्रिया खोजना चाहता है। उसे अधिक कुछ करना भी न पड़े और बिना परिश्रम ही सर्व ऐहिक और पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हो जाय तो इससे अच्छी और क्या उपलब्धि हो सकती है ?

गायत्री मन्त्र के द्वारा ऐसी ही उपलब्धि हो सकती है। यह लौकिक और पारलौकिक आनन्दों का अनादि काल से निरन्तर प्रवाहित रहने वाला स्रोत है, जिससे साधक सांसारिक सुखों को प्राप्त करता हुआ अन्त में परमानन्द रूप मोक्ष में निमग्न हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मथुरा के मूर्धन्य भाषावित् कविराज दाऊदयाल गुप्त ने उक्त सभी विषयों पर विस्तृत रूप से विचार किया है। इसमें गायत्री सम्बन्धी जिन-जिन रहस्यों का उद्‌घाटन हुआ है, वह पुरातन और अभिनव से ओत-प्रोत होते हुए भी अपनी विशिष्ट मौलिकता व्यक्त करता है। हमारा विश्वास है कि यह ग्रन्थ पाठकों को अत्यन्त उपादेय सिद्ध होगा।

—प्रकाशक

विषय सूची

★

ज्ञान, कर्म उपासना की त्रिवेणी गायत्री महाविद्या १७

१. गायत्री की उत्पत्ति १७

२. गायत्री मन्त्र १६

३. गायत्री विद्या के छन्द २०

४. गायत्री विद्या ही सर्ग विद्या २०

५. गायत्री का मुख अग्नि २१

६. भगवत्प्राप्ति का महान् साधन प्रणव २२

७. युधिष्ठिर का जिज्ञासा २२

८. सर्वदायिनी गायत्री २२

९. सर्व दु:खनाशिनी गायत्री २७

१०. गायत्री से आत्मिक दु:ख की निवृत्ति २८

११. गायत्री द्वारा सभी पापों का नाश सम्भव २९

१२. पृथिवी तत्व को नियन्त्रित करने के उपाय ३०

१३. प्रणव व्याख्यान ३१

१४. ओंकार में सर्वदेव और सर्ववेद का समावेश ३२

१५. प्रणव ही अमृत है ३४

१६. ओंकार विषयक उपाख्यान ३५

१७. प्रणव का व्यापक प्रभाव ३७

१८. गायत्री की तीन व्याहृतियाँ ३८

१९. प्रथम व्याहृति 'भूः' ३८

२०. द्वितीय व्याहृति 'भुवः' ४०
२१. तीसरी व्याहृति 'स्वः' ४१
२२. गायत्री उपासक की याचना ४२
२३. सुख-दुःख की निवृत्ति ही आनन्द है ४३
२४. आनन्द की प्राप्ति के लिए परमात्म ज्ञान अपेक्षित ४४
२५. 'तत्' शब्द और उसका महत्व ४५
२६. गायत्री मन्त्र का प्राण 'सवितुः' ४६
२७. सविता सावित्री का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ४७
२८. बला-अतिबला विद्याएँ और गायत्री ४७
२९. वैज्ञानिकों का मत ४८
३०. 'वरेण्यम्' में ब्रह्म की भावना ४९
३१. सब के कर्मों का नियामक एकाकी ब्रह्म ५०
३२. परब्रह्म का अद्वितीय गुण भर्गः ५१
३३. भर्ग के भगवद् भजन के अभिप्राय ५३
३४. 'देवस्य' की महानता ५४
३५. आत्म-चिन्तन की क्रिया रूप 'धीमहि' ५६
३६. शारीरिक शक्तियों का शयन और मानसिक शक्तियों का जागरण ५७
३७. ध्यान और उसके प्रमुख भेद ५८
३८. बुद्धि का वाचक 'धियः' ५९
३९. निर्वितर्क समाधि में बाह्य विशयों की निवृत्ति ६०
४०. ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अर्थ का साक्षात्कार ६१
४१. 'यः' शब्द से परमात्मा का संकेत ६२
४२. 'नः' से आत्म भावना की प्रेरणा ६३
४३. 'प्रचोदयात्' में मन्त्र की पूर्ण सफलता ६४

४४. गृहस्थ के लिए धनोपार्जन अपेक्षित ६५
४५. गृहस्थाश्रम और शुद्धाचरण ६६
४६. आत्मा-परमात्मा का ऐक्य ६७
४७. 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना ६८
४८. ज्ञान, कर्म और उपासना का केन्द्र ६९
४९. ज्ञान विषयक आख्यायिका ७०
५०. शुभ कर्मों से ही आत्मोत्थान सम्भव ७१
५१. दश प्रकार के यम ७१
५२. दश प्रकार के नियम ७७
५३. उपासना का महत्व ७५
५४. उपासना से जीवमात्र का परम उपकार ७५
५५. सूर्योपासना से पुत्र प्राप्ति ७७
५६. उपासना से पाप-दारिद्रय का नाश ७७
५७. गायत्री द्वारा विक्लिष्ट उपासना की सिद्धि ७८

स्तुति प्रार्थना, आराधना का संगम गायत्री मन्त्र ८०
१. परमात्मा के गुणों का वर्णन ८१
२. गुण-कीर्तन से श्रेय की प्राप्ति ८२
३. 'धीमहि' ध्यान और अराधना का प्रतीक ८३
४. बूँद-बूँद से सरोवर की परिपूर्णता ८४
५. गायत्री की सूक्ष्म तरङ्गों से प्रकृति में हलचल ८५
६. अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियों का जागरण ८६
७. अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थिथों का सिद्ध स्वरूप ८८
८. विभिन्न सिद्धियों के विभिन्न चमत्कार ८९
९. अष्टांग योग और गायत्री योग के फल में समानता ९०
१०. हृदयस्थ पद्माकार सूक्ष्म ग्रन्थि का वर्णन ९०
११. सात पातालों का वर्णन ९२

१२. संयम से साक्षात्कार ९३
१३. प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियाँ ९४
१४. अन्य अष्ट सिद्धियाँ और उनके कार्य ९५
१५. सिद्धियों की उपलब्धि में श्रद्धा-विश्वास अपेक्षित ९७
१६. भक्ति के प्रमुख अंग ९८
१७. सूक्ष्म की असीमित शक्ति ९८
१८. शब्द की महान् शक्ति ९९
१९. मन्त्र सिद्धि के लिए जप की अपेक्षा १००
२०. मन्त्र और उसका यथार्थ स्वरूप १०१
२१. मन्त्रशक्ति की उपलब्धि के लिए आपेक्षित साधन १०२
२२. साधना की स्वतन्त्र प्रक्रिया जप १०३
२३. प्रार्थना की मसान शक्ति में लाचनात्मक ऊर्जा का प्रभाव १०४
२४. जीव में 'आनन्द' गुण की न्यूनता १०५
२५. प्रार्थना और पश्चाताप की समान स्थिति १०६
२६. आत्मा के लिये आवश्यक आहार की प्रार्थना १०७
२७. प्रार्थना से नवीन शक्तियों का आविर्भाव १०८
२८. आराधना और उसकी शक्ति १०९
२९. गायशी मन्त्र की विशेषतायें १११

साधकों, उपासकों की दृष्टि में गायत्री साधना का महत्व १११

१. सद्बुद्धि का सरल मन्त्र ११२
२. परमात्मा ही गायत्री है ११३
३. गायत्री की प्राणदायिनी शक्ति ११४
४. गायत्री से आयु-वर्द्धन ११५
५. पुनर्जीवन का स्रोत प्रवाहित करने वाली प्रार्थना ११६
६. सर्वशक्तिदायिनी गायत्री ११६

७. गायत्री साधक के आशीर्वाद की शक्ति ११७
८. गायत्री साधना से काम्यफल की प्राप्ति ११८
९. एकोभाव में निवेदन और आज्ञा की अभिन्नता ११९
१०. वाणी की वाचालता रोकने के लिए मौन साधन १२१
११. गायत्री साधना द्वारा काल से मित्रता १२२
१२. गृहस्थाश्रम का महत्व प्रतिपादन १२४
१३. पतिव्रत धर्म की महिमा १२७
१४. धर्मव्याध का कुलोचित धर्म-पालन १२८
१५. शिष्टाचार के पाँच साधन १२९
१६. माता-पिता की सेवा से सर्व प्राप्ति १३०
१७. सिद्धि का एक मात्र रहस्य गायत्री साधना १३२
१८. एक परिव्राजकाचार्यजी का अनुभव १३४
१९. उपासना का कोई भी मार्ग कष्ट-रहित नहीं १३६
२०. भक्ति, ज्ञान और योग की अभिन्नता १३७
२१. योग का अभिप्राय कर्म में योजित होना १३८
२२. गायत्री योग की श्रेष्ठता १३९
२३. गायत्री साधना से विभिन्न परिवर्तन १४०
१४. गायत्री स्वरलहरी में अगजग की निस्तब्धता १४२
२५. मन्त्रगान में साधक की मन्त्रमयता १४३
२६. गायत्री-साधना से मृत्यु-भय का नाश १४४

विभिन्न रूपों और सामर्थ्यों से सम्पन्न सर्वदेवात्मिका गायत्री

१. नृसिंह गायत्री १४५
२. गणेश गायत्री १४५
३. सरस्वती गायत्री १४६
४. महालक्ष्मी गायत्री १४७
५. राधा गायत्री १४८

६. सीता गायत्री १४९
७. दुर्गा गायत्री १४९
८. देवी गायत्री १५१
९. गायत्री का एक तान्त्रिक स्वरूप १५२
१०. मौद्गल्योपाख्यान १५३
११. कृष्ण गायत्री १५५
१२. विष्णु गायत्री १५७
१३. शिव गायत्री १५८
१४. राम गायत्री १५९
१५. हनुमान गायत्री १६०
१६. याज्ञवल्क्य-स्वायंभुव सम्वाद १६१
१७. गायत्री की चौबीस शक्तियाँ १६२
१८. सावित्री पंजर स्तोत्र में ध्यान का स्वरूप १६३
१९. गायत्री महातत्त्व और उसकी महिमा १६६
२०. सहस्रनेत्रा गायत्री १६७
२१. गायत्री में संयम से ज्ञान की उत्पत्ति १६८
२२. अशुद्ध अवस्था में गायत्री जप का निषेध १६९
२३. गायत्री से सभी पापों का नाश १७०
२४. उपस्थान के पश्चात् गायत्री जाप का महत्व १७१
२५. गायत्री के समक्ष शत्रुओं का पलायन १७२

योगाभ्यास की सरल प्रक्रिया गायत्री-साधना १७३
१. गायत्री साधना में आसन का महत्व १९१

गायत्री मंत्र साधनों के लिए ज्ञातव्य मंत्रयोग के षोडश अंग २०७
१. भक्ति और उसका स्वरूप २०८
२. शौच का विशेष महत्व २०९

३. स्थिरता के लिए आसन की अपेक्षा २१०
४. आवश्यकतानुसार मुद्राओं का प्रयोग २११
५. मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन श्रेष्ठ आचार २१६
६. साधना में पंचांग सेवन का महत्व २२०
७. दिव्यदेश सेवन से साधन में सफलता २२१
८. श्रद्धा का प्रतीक तर्पण २२३
९. यज्ञों के तीर्थों का प्राकट्य २२३
१०. बलि का अभिप्राय कामादिरूपी पशुओं का बलिदान १२४
११. योग और उसके दो भेद २२५
१२. मन्त्र सिद्धि के लिये जप की अनिवार्यता २२५
१३. प्राणक्रिया से प्राणों का नियमन २२६
१४. धारण, ध्यान और समाधि २२६
धारणा, ध्यान, समाधि की त्रिपुटी गायत्री जप अनुष्ठान २२६
१. गायी मन्त्र द्वारा समाधि की सहज व्यवस्था २४३
इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञान शक्ति का साधक गायत्री महामन्त्र २५३

□

ॐ

गायत्री योग

ज्ञान, कर्म, उपासना की त्रिवेणी

गायत्री महाविद्या

गायत्री वह महान् विद्या है, जिसमें ब्रह्मज्ञान भरा हुआ है और इसीलिए ज्ञानीजन इसे 'ब्रह्मविद्या' की संज्ञा देते हैं। गायत्री रहस्योपनिषद् के अनुसार स्वयंभू पुराण पुरुष ने अपनी अँगुली का मन्थन किया, जिससे जल की उत्पत्ति हुई। जल से फेन, फेन से बुदबुद्, बुदबुद् से अंडा और अण्डा से ब्रह्माजी उत्पन्न हुए। इस प्रकार सर्गारम्भ में सृष्टि का कर्म चल पड़ा। प्रलय काल में जो ईश्वर शयन किये रहते हैं, वे जब जाग्रत् होते हैं, तभी नवीन सर्ग का आरम्भ होता है।

गायत्री की उत्पत्ति

ब्रह्माजी ने सर्व प्रथम वायु को उत्पन्न किया। वायु से अग्नि और अग्नि से ओंकार (प्रणव) का प्राकट्य हुआ। ओंकार से व्याहृति हुई और 'व्याहृत्याः गायत्र्य भवेत्' (गा.र.उ.) अर्थात् 'व्याहृत्ति से गायत्री की उत्पत्ति हुई। तत्पश्चात् गायत्री से सावित्री, सावित्री से सरस्वती, सरस्वती से सभी वेद सभी वेदों से सब लोक और अन्त में सब लोकों से समस्त प्राणी उत्पन्न हुए। इस प्रकार गायत्री के द्वारा ही सम्पूर्ण सृष्टि का आरम्भ हुआ और इसीलिए उसमें सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्य भरे हुए हैं।

गायत्री मंत्र

'ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि धियो योनः प्रचोदयात्'-यह लोक प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र है, जिसका सामान्य अर्थ है-प्राणरूप, सुखरूप, प्रकाशरूप एवं वरणीय तथा पाप-दुःख नाशक उन देवरूप परमात्मा को हम अपने अन्तरात्मा में धारण करते हैं, वे हमारी बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरित करें।

गायत्री रहस्योपानिषद् के अनुसार' 'भू' भूलोक का 'भुव' आकाश लोक का, 'स्वः' स्वर्ग लोक का, 'महः' महलोक का, जनः' जनलोक का, 'तपः' तपोलोक का और 'सत्य' सत्य लोक का वाचक है। 'तत्' तेजोमय अग्नि का, 'सवितु' सूर्य का, 'वरेण्यम्' प्रजापति ब्रह्मा का, 'भर्गः' जल का, 'देवस्य' तेजस्वी इन्द्र का, 'धीमहि' अन्तरात्मा का, 'धियः' अन्य अन्तरात्मा (ब्रह्मा) का, 'यः' सदाशिव पुरुष का, 'नः निज जो धर्म विद्या सब लोकों का आश्रयण करादे वही गायत्री है।

इसके चौबीस अक्षर हैं तीन और चार पाद, छः कुक्षियां एवं पाँच शिर हैं। यह शांख्यायन गोत्र की है। चोबीस अक्षर ऊपर बता चुके हैं। पादों के विषय में इस प्रकार समझिये कि इसका प्रथम पाद ऋग्वेद है, दूसरा यजुर्वेद, तीसरा सामवेद और चौथा पाद अथर्ववेद है।

इसकी कुक्षियों के विषय में कहते हैं—प्रथम कुक्षि पूर्व दिशा, दूसरी कुक्षि दक्षिण दिशा, तीसरी पश्चिमी और चौथी कुक्षि उत्तर है। आकाश पाँचवीं और पाताल आदि नीचे के लोक छठी कुक्षि है।

'व्याकरणोऽस्याः प्रथम शीर्षो भवति, शिक्षा द्वितीयः, कल्पस्तृतीयः, निरुक्तश्चतुर्थः ज्योतिषामयनमिति पंचमः' (गा.र उ.) अर्थात् 'गायत्री का प्रथम शिर व्याकरण, दूसरा शिर शिक्षा. तीसरा कल्प, चौथा निरुक्त और पाँचवाँ शिर ज्योतिष है।

इनके ध्यान योग्य वर्ण और दिशा के विषय से कहा गया है कि पूर्व में लाल वर्ण की गायत्री का, दक्षिण में श्वेत वर्ण की सावित्री का और पश्चिमी में कृष्ण वर्ण की सरस्वती का ध्यान करे। इनके विस्तार स्थल और निवास स्थान क्रमशः पृथिवी, आकाश और स्वर्ग हैं। यह तीनों ही अकार, उकार और मकार रूप उदात्त आदि स्वरों से सम्पन्न हैं।

गायत्री विद्या के छन्द

गायत्री विद्या के छन्द हैं—गायत्री त्रिष्टुप् जगती, अनुष्टुप्, वृहती और उष्णिक्। इन्हें त्रिरावृत अर्थात् तीन आवृत्ति से युक्त समझना चाहिए। गातत्री की निम्न चौबीस शक्तियाँ हैं--प्रह्लादिनी, प्रज्ञा, विश्वभद्र, विलासिनी, प्रभा, शान्ता, मा, कान्ति, स्पर्शा, दुर्गा, सरस्वती, विरूपा, विशालाक्षी, शालिनी, व्यापिनी, विमला, तमोऽपहारिणी, सूक्ष्मावयवा, पद्मालया, बिरजा, विश्वरूपा, भद्रा, कृपा और सर्वतोमुखी।

पृथिवी जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, वाक्य, पाद, पायु, उपस्थ त्वचा, चक्षु श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण, मन, बुद्धि अहंकार, चित्त और ज्ञान—यह गायत्री के प्रत्येक अक्षर के तत्व माने गये हैं।

इसका प्रथम अक्षर अग्नि दैवत्व, दूसरा प्रजापति दैवत्व, तीसरा चन्द्र दैवत्व, चौथा ईशान (शिव) दैवत्व, पाँचवाँ, आदित्य, छठा गर्हपत्य अग्नि, सातवाँ मैत्र दैवत्व, आठवाँ भग दैवत्व, नवाँ अर्यमा, दशवाँ सविता, ग्यारहवाँ त्वष्टा, बारहवाँ पूषा, तेरहवाँ इन्द्राग्नि चौदहवाँ वायु पन्द्रहवाँ वामदेव, सोलहवाँ मैत्रावरुणा, सत्रहवाँ भ्रातृव्य, अठारहवाँ विष्णु, उन्नीसवाँ वामन, बीसवाँ वैश्वदेव, इक्कीसवाँ रुद्र, बाईसवाँ कुबेर, तेईसवाँ अश्विनीकुमार ओप चौबीसवाँ

अक्षर ब्रह्माधिदैवत्व है । इस प्रकार गायत्री के चौबीसों अक्षर देवात्मक हैं ।

सावित्र्युपनिषद ने गायत्री के तीन पादों का बिवेचन करते हुए कहा है--'तस्या एव प्रथमः पादों भूस्तत्सवितवरेण्यत्यमिनवैं वरेण्यमायो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् । तस्या एव द्वितीयः पादो भर्गमयो भुवो भर्गो देस्स्य धीमहीत्यग्निवैं भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः । तस्या एव तृतीयः पादः स्वर्धियों यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजयनतः । यो वा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति' अर्थात् सावित्री का प्रथम पाद भूः तत्सवितुर्वरेण्यम्' अग्नि, जल व चन्द्रमा देवता की वरेण्य हैं। सावित्री का दूसरा पाद 'भुव; भर्गोदेवस्य धीमहि' है, वह तेजोमय है । अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा देवता ही वह भर्ग तेज हैं । सावित्री का तीसरा पाद 'धियो योनः प्रचोदयात्' इस सावित्री को जो स्त्री और पुरुष गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए समझते हैं, वे मृत्यु से छूट जाते हैं अर्थात् पुनर्जन्म नहीं लेते ।

गायत्री विद्या ही सर्ग विद्या

उक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गायत्री विद्या सृष्टि विद्या का ही एक नाम है । गायत्री के प्रत्येक अक्षर में सृष्टि की रहस्यमयी प्राक्रिया भरी पड़ी है । इस विद्या का स्रोत अनादि है और इस व्यक्त की सृष्टि करके वह अव्यक्त ब्रह्म इसी में अनुप्रविष्ट हो रहा है—समाया हुआ है ।

वृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार प्राण ही गाय है औरजो उसकी रक्षा करती है वह गायत्री हैं । उसके प्रथम पाद को त्रिलोकी से पूर्णदान ही प्राप्त करा सकता है । यदि सम्पूर्ण त्रयी विद्या दान किया जाय तो उससे गायत्री का दूसरा पद प्राप्त होता है । सम्पूर्ण प्राणियों का दान गायत्री के तीसरे पाद के समान है, परन्तु गायत्री का जो चौथा दर्शन

पद (दिखाई देने वाला पद) सबसे ऊपर है उसकी समानता किसी भी प्रतिग्रह से नहीं की जा सकती ।

इसी उपनिषद् में गायत्री को सम्बोधन करके कहा गया है कि तू एक पदी, दो पदी, तीन पदी और चार पदी है । तू जानने में आ सकने के कारण बिना पद की भी कही जाती है । तेरा जो तुरीय दर्शन पद सभी लोकों से ऊपर है, उसे नमस्कार है । जिसके प्रति ज्ञानी विद्वेष करता है वह शत्रु (अज्ञानी) उस पद को प्राप्त हो । उसकी वैसी प्रार्थना कभी भी पूर्ण नहीं होनी चाहिए ।

गायत्री का मुख अग्नि

राजा जनक ने बुडिल आश्वतराश्वि से कहा कि 'तुम गायत्री के ज्ञाता होकर भी हाथी जैसा भार क्यों ढोते हो ? इस पर बुडिल ने कहा—'हे राजन् ! मैं गायत्री के मुख को नहीं जानता ।' जनक बोले—'गायत्री का मुख अग्नि ही हैं । जैसे अग्नि में कुछ भी डालिए, जो डालेंगे उसी को अग्निदेव भस्म कर देते हैं वैसे ही अग्नि को गायत्री का मुख जानने वाला ज्ञानी पुरुष असंख्य पापों को करने वाला होकर भी शुद्ध-पवित्र, तथा जरा-मरण रहित हो जाता है ।'

गायत्री मन्त्र के द्वितीय पाद में 'भर्गः' शब्द है, वह परमात्म शक्ति का वाचक है । वह शक्ति सर्वोत्कृष्ट और सर्वोपरि होने के साथ ही पापों को भी नष्ट कर देती है । उसमें अग्नि के समान भस्म कर देने की सामर्थ्य है, इसलिए उससे 'भर्गः' शक्ति की उपासना करने वाले योगी के सभी पाप भस्म हो जाते हैं । मनुस्मृति के अनुसार—

त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादं पादमदूदुहत् ।
तदित्यृचोऽस्याः सावित्र्याःपरमेष्ठी प्रजापतिः ॥

अर्थात्—परमेष्ठी प्रजापति (ब्रह्मा) ने तीनों वेदों में से एक-एक पाद का दोहन किया ।

भगवत्प्राप्ति का महान् साधन प्रणव

मनुस्मृति में ही कहा है कि इस अक्षर (प्रणव) को और भू: भुव: स्व: युक्त गायत्री का संध्याकाल में जप करने वाला विज्ञ पुरुष वेद के स्वाध्याय का पुण्य प्राप्त कर लेता है। ओंकार से प्रारम्भ एवं तीन व्याहृतियों और तीन पाद युक्त गायत्री ब्रह्मा (अथवा वेद) का मुख समझना चाहिए। इसके आरम्भ में जो 'प्रणव' है, वह एकाकी ही भगवत्प्राप्ति का महान् साधन है और प्राणायाम सबसे बड़ी तपस्या है। यदि गायत्री के साथ प्राणायाम भी किया जाय, तब तो साधक को कुछ अन्य कर्म करना अपेक्षित नहीं है। इस प्रकार गायत्री से बढ़कर अन्य कुछ है ही नहीं। मौन रहने से तो सत्यवाणी (गायत्री) का मुख से जप होता रहे, वही विशिष्ट कर्म है।

गायत्री सभी वेदों का सार है। यदि वेदाध्ययन करने का अवसर न मिले तो केवल गायत्री मन्त्र के जप से ही सब वेदों का अध्ययन सिद्ध हो जाता है। 'गायत्रीमात्रनिष्णातो द्विजो मोक्षमवाप्नुयात्' (देवी) भागवत) अर्थात् 'गायत्री उपासना निष्णात द्विज को मोक्ष की प्राप्ति होती है। यथा—

सर्वं वेद सारभूता गायत्र्यास्तु समर्चना।
ब्रह्मादयोऽपि सन्ध्यायायां तां ध्यायन्ति जपन्ति च ॥

—देवी भागवत ११।१५।१५

अर्थात्—गायत्री की उपासना सभी वेदों की सारभूत है, जिसका सन्ध्याकाल (प्रात: सायं) ब्रह्मादि भी ध्यान और जप किया करते हैं।

युधिष्ठर की जिज्ञासा

महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से जिज्ञासा की कि 'ऐसा कौन-सा जप्य मन्त्र है, जिसके जपने से महान् धर्मफल की

प्राप्ति हो सकती है। प्रस्थान के समय, प्रवेश के समय कार्यारम्भ के समय तथा दैव-कार्य आदि में कौन-सा मन्त्र कार्य सिद्धि करता है।' इसके उत्तर में पितामह उत्तर देते हैं—

यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥
न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात्।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद भयं तस्योपजायते ॥
चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः।
करोति सततं शान्ति सावित्रीमुतमां पठन् ॥
नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते।
न तत्र बालोम्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥
न तेषां विद्यते दुःख गच्छन्ति परमां गतिम्।
ये श्रृण्वन्ति महद्ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥
गवांमध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत ॥
जपतां जुह्वतां नित्यं च प्रयतात्मनाम्।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥
याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम्।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥
तदेतत्ते समाख्यात तथ्य ब्रह्मसनातनम्।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥

—महाभारत, अनु० पर्व ६८-७६

अर्थात्—सावित्री (गायत्री) का पाठ करने वालों को यान, पात्र, प्रवास एवं राजभवन आदि में परम सिद्धि की प्राप्ति होती है। उन्हें

राजभय, पिशाच, राक्षस, अग्नि, जल, वायु या सर्प का भय नहीं होता गायत्री का पाठ करने वाले साधक चारों वर्णों और आश्रमों की शान्ति करने में समर्थ होते हैं। जहाँ सावित्री का पाठ होता है, वहाँ अग्नि काष्ठ को दग्ध नहीं करता. है वहाँ बालक मरते हैं और न सर्पों का ही निवास होता है। सावित्री-गुणप्त-कीर्तन रूप महान् वेद का जो श्रवण करते हैं वे परम गति को प्राप्त होते हैं। यदि गौओं के मध्य बैठकर गायत्री का पाठ किया जाय तो गौएँ बहुत से बछड़ों वाली होती हैं। इसलिए प्रस्थान के समय और प्रवास में भी अथवा सभी अवस्थाओं में गायत्री का पाठ करना श्रेयस्कार है। हे राजन् ! जय और यज्ञ करने तथा सदैव सावधान चित्त रहने वाले ऋषियों के लिए यह मन्त्र परम जप्य और गोपनीय है। कंकाल में पाराशर ऋषि के मतानुसार यह इतिहास इन्द्र के प्रति कहा गया था, वही तुमसे कहा गया है। यह गायत्री सनातन ब्रह्मरूप, सभी भूतों का हृदय तथा सनातनी श्रुति है।

गायत्री की महिमा पर उक्त कथन से बहुत कुछ प्रकाश पड़ जाता है। वेद इसे गुरु मन्त्र बताता है। सभी वेद गायत्री की भूरि-प्रशंसा करते हैं। 'ॐ स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राण प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्' (अथर्व १९।७१।१) अर्थात् 'द्विजों को पवित्र करने वाली, वरदात्री वेदमाता गायत्री की मैंने स्तुति की है। वह स्तुति विस्तृत होकर मुझे आयु (दीर्घ जीवन), प्राण (नव जीवन), सन्तान, पशु, कीर्ति, द्रव्य और ब्रह्मवर्चस्व प्रदान करके अन्त में ब्रह्मलोक की प्राप्ति करने वाली हो'

इससे सिद्ध हुआ कि गायत्री इहलोक और परलोक, दोनों ही लोकों को सुधारने और सुखी बनाने में समर्थ है। उसका प्रभाव सर्वत्र समान है, कहीं न्यूनाधिक नहीं। उसके द्वारा हमें युग-युग से परमानन्द और

कल्याण की प्राप्ति होती रही है। उक्त कथन यह स्पष्ट कर रहा है कि गायत्री की उपासना करने वाले को रोग, निर्बलता आदि से प्रभावित नहीं होना पड़ता। क्योंकि उसके पास रोग और दुष्ट ग्रह आदि आ ही नहीं सकते। भूत, पिशाच तो गायत्री-पाठी की छाया से भी दूर भागते हैं।

सर्वदायिनी गायत्री

सांसारिक मनुष्य केवल आरोग्य और बल से ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता। उसे तो धन, वैभव, भवन, स्त्री, सन्तान सभी कुछ चाहिए। उसकी यह भी आकांक्षा रहती है कि समाज में प्रतिष्ठा बड़े, जिसमें सर्वत्र सुयश उसे फैलने लगे। दूसरे लोग उसे सम्मान की दृष्टि से देखने लगें। गायत्री उसे यह सभी प्रदान करती है। धन, सन्तान स्त्री, ठाठ बाट और सुयश आदि सब कुछ देती है और उससे भी बड़ी बात यह हैं कि इस लोक में सब प्रकार सुख भोगने के पश्चात् गायत्री के उपासक को ब्रह्मलोक की भी प्राप्ति करा देती है।

संसार में अनेक प्रकार के दु:ख हैं, परन्तु विद्वानों ने उन्हें तीन प्रकार से विभाजित किया है—(१) शारीरिक दु:ख २) मानसिक दु:ख, और (३) आत्मिक दु:ख। प्रथम प्रकार के दु:ख में रोग, निर्बलता, चोट मोच आदि ही प्रमुख रूप से आते हैं। उनमें ऐसा कोई भी दुख नहीं है, जो गायत्री के प्रभाव से दूर न हो जाता हो। एक करोबारी पुरुष थे, उन्हें नियमित रूप से खाने-पीने, सोने-बैठने चलने-फिरने आदि के लिए भी कम अवकाश मिल पाता था इस कारण बेचारे मलावरोध आदि से ग्रस्त रहते। धीरे-धीरे उन्हें उदर रोग का शिकार होना पड़ा। संग्रहणी हो गई और शरीर सूख कर हाड़-माँस की ठठरी मात्र रह गया। फिर भी उन्हें कारोबार से फुरसत नहीं थी। इसलिए धीरे-धीरे उनकी वह स्थिति हो गई चलने-फिरने से भी लाचार हो गए।

परन्तु, सौभाग्यवश उनके यहाँ एक अतिथि का आगमन हुआ, यद्यपि वे अतिथि-सत्कार का कुल कार्य अपने सेवकों पर छोड़ देते थे, किन्तु इस बार उन्हें उतना अनवकाश नहीं था, इसलिए स्वयं ही अतिथि की ओर ध्यान देने के विचार से अपने कमरे में बुला लिया। उन्हें देखते ही अतिथि बोले--भई, यह क्या हाल है तुम्हारा ? मुझे इसका कारण बताओ।' उन्होंने अपने अनवकाश की बात उन्हें बताई और बोले-महाराज ! मैं इस लोक में कोई ऐसा कार्य नहीं कर सका, जिससे सद्‌गति को प्राप्त हो सकूँ फिर भी यदि कोई उपाय हो तो मेरे प्रति कहिये।'

अतिथि बोले—'निराशा की कोई बात नहीं, अभी कुछ भी नहीं बिगड़ा है तुम्हारा। एक गायत्री मन्त्र ही ऐसा है, जो तुम्हें रोग-मुक्त कर देगा और अन्त में सद्‌गति भी। देखो गायत्री मंजरी में भगवान् शंकर ने कहा है—

भूलोकस्यास्य गायत्री कामधेनुर्मता बुधैः ।
लोक आश्रयणेनामुं सर्वमेवाधिगच्छति ॥

अर्थात्—विद्वज्जनों के मत में गायत्री पृथिवी लोक की कामधेनु है। इसका आश्रय लेकर विश्व के सभी प्राणी सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं।

यह कह कर अतिथि ने उन्हें गायत्री मंत्र का ज्ञान दिया और उसका सरल प्रयोग बतलाया। उस दिन से वे व्यवसायी सज्जन नित्य नियम पूर्वक गायत्री का जप करने लगे। उसके प्रभाव से कुछ दिन में ही वे भले-चंगे होगए। उन्हें कोई रोग नहीं रहा। तब उन्होंने अपने कारोबार का भार पुत्रों पर छोड़ दिया और निश्चिन्त होगए। इसके पश्चात् वे अपने सभी परिचितों को गायत्री की महिमा से अवगत कराते रहते थे।

सर्व दुःख नाशिनी गायत्री

यह रही शारीरिक दुःख के निवारण से सम्बन्धित बात, अब मानसिक दुःख पर विचार करेंगे। उसमें स्त्री, पुत्र, धन, पद, यश आदि की चिन्ता का समावेश रहता है। इनमें से किसी एक वस्तु का भी अभाव मनुष्य को चैन नहीं लेने देता और वह स्थिति तो और भी अधिक दुःखदायी होती है, जिसमें प्राप्त हुई वस्तु छिन जाय, स्त्री, पुत्र आदि से वियोग हो जाय या धन, प्रतिष्टा आदि नष्ट होजाय। एक कहावत है कि मनुष्य मरे हुए के लिए तो बैठकर ही रोता है, परन्तु धन के चले जाने पर खड़ा-खड़ा रोता रहता है। कैसी मानसिक वेदना प्रकट होती है, उक्त कहावत में? इस दुःख की निवृत्ति का उपाय विद्वानों के अनुसार वैराग्य ही है। परन्तु लोक में ऐसे कितने हैं जो वैराग्य धारण कर पाते हैं। वियोग-दुःख से दग्ध होते रहते हैं, परन्तु मोह को नहीं छोड़ पाते। उनके लिए शास्त्रों में गायत्री-पूजन के अनेक विधानों का निर्देश किया है। 'अथ पुष्टि श्रियं लक्ष्मी पुष्पैर्हुत्वाऽऽनुयाद्‌ द्विजः' (देवी भागवत) अर्थात् 'द्विजों को चाहिए कि वे पुष्टि, श्री और लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए पुष्पों की आहुति दे अथवा पुष्पांजलि भेंट करें।'

गायत्री मन्त्र से सर्व प्राप्ति होती है, यह पहले ही बता चुके हैं। सब प्रकार से चित्त का शान्त रखने के लिए भी गायत्री की उपासना करनी चाहिए। मन की सभी विकारों से हटा कर आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की ओर लगा देना चाहिए। क्योंकि 'मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' अर्थात् 'मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष दोनों का ही कारण मन है।' जो लोग इस रहस्य को समझ जाते हैं, वे सर्वप्राप्ति में समर्थ होते हैं।

गायत्री से आत्मिक दुःख की निवृत्ति

आत्मिक दुःख की निवृत्ति में भी गायत्री से बढ़ कर कोई अन्य उपाय नहीं है। यह दुःख जन्म मरण के चक्र में पड़े रहने से सम्बन्धित है। प्रथम तो व्यामोह में पड़े हुए जीव को आत्मोत्थान विषयक उपाय का ज्ञान ही नहीं हो पाता और यदि ज्ञान हो भी जाय तो उसे करने में कठिनाई होने के कारण नहीं कर पाता, जिससे उसी दलदल में फँसा रहता है।

यदि गायत्री का आश्रय लिया जाय तो उससे लोक-परलोक सभी बन जाते हैं। उसके द्वारा जन्म-मरण का बन्धन कटना बहुत सरल कार्य है। क्योंकि 'गायत्र्येव तपो योगः साधनं ध्यानमुच्यते' (गायत्री मंजरी) अर्थात् 'गायत्री ही तप, योग, साधन और ध्यान कही जाती है।' इस प्रकार गायत्री सभी तपस्याओं, योग-विधियों और अन्यान्य साधनों में श्रेष्ठ है। उसके द्वारा सभी इच्छित स्वतः पूर्ण हो जाते हैं।

बहुत-से तीन आचार्यों ने दुःख के तीन विभाग करके उन्हें दैहिक, दैविक और भौतिक दुःख की संज्ञा दी है। दैहिक अथवा शारीरिक दुःख का विवेचन ऊपर कर आये हैं। दैविक दुःख वह है जो देवताओं के कुपित होने से प्राप्त होता है। किसी देवता के विषय में अविश्वास, उनक कथा-कीर्तन आदि में विघ्न उपस्थित करना, देव-मन्दिर के आगे या किसी साधु सन्त की समाधि के आगे मल-मूत्र त्याग करना अथवा देव, ऋषि, ब्राह्मण, गुरुजन, या अन्य पूजनीय व्यक्तियों को प्रणाम न करके उनका निरादर करना आदि अनेक ऐसे कारण हैं, जिनके जाने-अनजाने हो जाने पर दैविक दुःख की प्राप्ति हो जाती है।

परन्तु दैविक दुःख की निवृत्ति के लिए वृद्धजनों, ऋषियों और देवताओं आदि को प्रसन्न करना हितकर माना गया है। सन्तजनों, भगवद्भक्तों या स्वयं भगवान् की प्रतिमा के समक्ष जाकर उनका आश्रय ग्रहण करने से देव-कोप का प्रतिकार होना असम्भव नहीं। भगवान्

रामचन्द्रजी के राज्य में तो सभी प्राणी इतने सुखी थे कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट था ही नहीं। तुलसीदासजी कहते हैं—दैहिक दैविक भौतिक तापा। रामराज्य काहुहि नहिं व्यापा।

गायत्री द्वारा सभी पापों का नाश संभव

दैविक दुःख की प्राप्ति का प्रमुख कारण देवताओं का किसी भी प्रकार से होने वाला तिरस्कार ही है। उस तिरस्कार में जो पाप निहित है, वही दैविक ताप को प्राप्त कराता है, परन्तु गायत्री सब प्रकार के पापों को काटने वाली है, इसलिए जो साधक उसकी साधना करते हैं, उन्हें सब प्रकार के पापों से मुक्ति मिल जाती है। मनु का कथन है—

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृति पूर्विकाम्।
सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

अर्थात्—ॐ भूर्भुवः स्वः तथा गायत्री के तीनों चरणों को जो विद्वान् सन्ध्याकालों (प्रातः सायं) जपता है, वह सभी प्रकार के पुण्य फल को प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार गायत्री के द्वारा सब प्रकार के पुण्यों का अर्जन तो होता ही है साथ ही सब प्रकार के पापों से भी छुटकारा मिल जाता है, जिससे दैविक ताप की समाप्ति निश्चित है।

अब भौतिक ताप के विषय में सुनिये—उसका कारण पृथिवी तत्व का प्राबल्य होना है। क्योंकि—

कलौ युगे मनुष्याणां शरीराणीति पार्वती।
पृथिवीतत्त्वप्रधानानि जानास्येव भवन्ति हि॥
सूक्ष्मतत्त्वप्रधानान्युद्योगोद्भूतनृणामतः।
सिद्धीनां तपसामेत न भवन्त्यधिकारिणः॥

यह मान्यता भगवान् शंकर की है, जिस पर उन्होंने गायत्री मंजरी' में प्रकाश डाला है। वे पार्वतीजी से कहते हैं कि 'हे पार्वती ! तुम्हें यह तो विदित ही है कलियुग में मनुष्यों के शरीर पृथिवी-तत्व-प्रधान होते हैं। इसलिए कलियुग के मनुष्य अन्य युगों में उत्पन्न होने वाले सूक्ष्म-तत्व-प्रधान मनुष्यों की सिद्धि एवं तपस्या के अधिकारी नहीं होते।

इस प्रकार अपने द्वारा किये जाने वाले सुकृतों का फल कलियुग में उतना नहीं मिल पाता जितना कि अन्य युगों में मिल सकता है। यही करण है कि कर्म करने पर उसका फल नगण्य होता है, तो पृथिवी तत्व से प्राप्त होने वाले दुःखों की प्राप्ति होना निश्चित ही है।

पृथिवी तत्व नियंत्रित करने के उपाय

अब विचारणीय यह है कि पृथिवी तत्व की बहुलता को कम किस प्रकार किया जाय ? ऐसा कौन-सा उपाय हो सकता है, जिसके करने से अन्य युगों में प्राप्त होने वाली सिद्धियों को उपलब्ध करना सरल हो जाय। इसका उत्तर भगवान् शंकर स्वयं ही देते हैं—

पंचांगयोग संसिद्धया गायत्र्यास्तु तथापि ते।
तद्युगानां सर्वश्रेष्ठां सिद्धिं सम्प्राप्नुवन्ति हि॥

अर्थात्—यदि कलियुग के पृथिवी तत्व की प्रधानता वाले मनुष्व गायत्री के पाँच अंगों की सिद्धि करे तो उन्हें उन अन्य युगों की सर्व श्रेष्ठ सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं।

इससे सिद्ध हुआ कि गायत्री की उपासना के द्वारा मनुष्य भौतिक तत्व को कम करके भौतिक दुःखों से छुटकारा प्राप्त कर सकता है। उसमें उसे किसी भी प्रकार की कठिनाई उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

जब गायत्री की ऐसी महान् महिमा है, तब उसके द्वारा किसी भी प्रकार की सिद्धि से वंचित रहने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

इस पर भी सभी वेदों, शास्त्रों, पुराणों, उपनिषदों आदि ने गायत्री को त्रैलोक्मयी माना है। गायत्री के प्रत्येक अक्षर और प्रत्येक व्याहृति से उसका सर्वमयी होना सिद्ध होता है। इसकी पुष्टि यद्यपि ग्रन्थारम्भ में की जा चुकी है, तथापि जितना भी प्रकाश डाला जाय उतना ही कम है। इसलिए उसका विस्तृत विवेचन किया जाता है—

प्रणव व्याख्यान

मन्त्र के आदि में ओंकार है, इसलिए सर्वप्रथम ओंकार की व्याख्या करना आवश्यक है। अ, उ, म, के सम्मिलन से ओ३म् का निर्माण होता है। भारतीय वर्णमाला का प्रथम स्वर 'अ' है' इसलिए इसे सर्व प्रथम पुरुष अर्थात् ब्रह्म का वाचक भी मानते हैं। अथवा 'अ' से अग्नि संसार सत आदि अनेक अर्थ लगाये जाते हैं, इसलिए विद्वानों ने इसकी अधिक व्यापकता देखकर इसे विश्व रूप या विश्व को अनेक प्रकार से प्रकाशित करने वाला कहा है। इसे विष्णु रूप भी समझा जाता है।

प्रणव का दूसरा अक्षर 'उ' है, जिसका अर्थ वायु तैजस् और चित् शक्ति भी किया जाता है। सम्पूर्ण तेजोमय पदार्थों का आश्रयभूत होने के कारण वह हिरण्यगर्भ भी है। इस प्रकार उसमें वायु, अग्नि, सूर्य, प्रजापति ब्रह्मा आदि का भी समावेश हो जाता है।

तीसरे अक्षर 'म्' का अर्थ है आनन्द, आदित्य और प्राज्ञ वह बुद्धि के लिए प्रेरणादायक और ईश्वरीय ज्ञान प्राप्त कराने वाला होन से कल्याणकारी भी है। उसमें उपासक की अभिलाषा पूर्ण करने की शक्ति होने से उसे 'ईश' या शिव भी कहा जाता है।

इस प्रकार जब ओ३म् के तीनों अक्षर मिल जाते हैं, तब उनमें अपूर्व शक्ति का अविर्भाव हो जाता है। उस समय अकेला ओ३म् ही परमात्मा का प्रतिनिधित्व करता हुआ सब जीवों का रक्षक, सब का

कल्याण करने वाला, सभी के पापों को दूर करने वाला, काम्य फलों का दाता और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होता है। ज्ञानीजन उसे ओ३म् के द्वारा ही परमात्मा को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। 'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' (मुण्डक) अर्थात् 'ओ३म्' के द्वारा परमात्मा का ध्यान किया जाना चाहिए।

गोपथ ब्राह्मण के अनुसार—'आ धातुरवतिमप्येके रूपसामान्यार्थसामान्यन्नदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः' अर्थात् 'दो धातुओं (आप्लृव्याप्तौ अव रक्षणे) के रूप से सामान्य कथन होता है, इससे अर्थ भी वैसा ही समझना चाहिए। आप्लृ धातु से उसकी सर्व व्यापकता और भव सागर से रक्षा करना या जन्म-मरण से मुक्त होना बनता है। इससे ओ३म् सर्व व्यापक है और वह जीव को जन्म-मरण से मुक्त करने में सहायक है। महर्षि दयानन्द का कथन है–एतच्च सर्वोत्तमं प्रसिद्धतमं पर ब्रह्मणो नामास्ति। एतेनैकेनैव नाम्ना परमेश्वरस्यानेकानि नामान्यागच्छन्तीति वेद्यम्' अर्थात् 'यह ओ३म् ब्रह्म का सर्वोतम एवं प्रसिद्धतम नाम है, जिस एक में ही परमात्मा के सभी नामों का समावेश हो जाता है।

ओंकार में सर्वदेव और सर्ववेद का समावेश

प्रणवोपनिषद् ने ओंकार में सभी देवों और वेदों की विद्यमानता स्वीकार करते हुए कहा है—

तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोकावेदास्त्रयोऽग्नयः।
तिस्र मात्रार्द्ध मात्रा च प्रत्यक्षस्य शिवस्य तत्॥

अर्थात्—उस ओंकार में तीनों देव, तीनों लोक, तीनों वेद, तथा अग्नियाँ, तीनों मात्रा तथा अर्द्ध मात्रा भी उसमें निहित है, क्योंकि वह उस परम शिव तत्व का ही स्वरूप है।

इसी उपनिषद् के अनुसार ओंकार के अ, उ, म् अक्षरों में जो प्रथम अक्षर 'अ' है, उसमें ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, पृथिवी व ब्रह्म की स्थिति बतायी गई है। 'उ' में यजुर्वेद, आकाश, दक्षिणाग्नि एवं भगवान् विष्णु की विद्यमानता है। 'म' में सामवेद, स्वर्ग, आहवनीय अग्नि एवं भगवान् शंकर विराजमान हैं।

इसी प्रकार ओंकार चन्द्र, सूर्य और अग्नि का स्वरूप भी है। अकार चन्द्रमण्डल के निकट एवं सूर्य मण्डल का भी स्वरूप है तथा ओंकार के मध्य में चन्द्र स्वरूप 'उकार' स्थिति है। अग्नि स्वरूप एवं विद्युत के समान तेजस्वी 'मकार' है इससे सिद्ध होता है कि अकेला ओंकार ही सब कुछ एवं सब से महान् है उससे बढ़ कर कुछ नहीं है। याज्ञवल्क्य का कथन है।

अदृष्टविग्रहो देवी भावग्राह्यो मनोमयः ।
तस्योंकार स्मृतो नाम तेनाऽऽहूतः प्रसीदति ।।

अर्थात् जो परमात्मा इन्द्रियों द्वारा देखे जाने में शक्य नहीं है और जो भावना के द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है तथा जो मनोमय हैं, उसे ओंकार कहते हैं और वह ओ३म् नाम से कहने पर ही प्रसन्न होता है।

उक्त श्लोक में मनोमय का अर्थ है मन के अनुसार रूप वाला अर्थात् मन उसके जिस रूप की कल्पना करे वैसा ही उसका रूप है। वस्तुतः संसार के सभी अनदेखे स्वरूप मनोमय ही होते हैं। उनकी जैसी कल्पना की जाती है, वही रूप उसके लिए फलवान् होता है। जैसे कि 'जाकी रही भावना जैसी, हरि मूरति देखी तिन तैसी' इसी की पुष्टि याज्ञवल्क्य के उक्त कथन से हो जाती है। निम्न उपनिषद्-वाक्यों पर दृष्टि डालिए, जो कि ओंकार की महिमा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवंचोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।।

अर्थात्—अपने देह को अरणि बना कर ओंकार को उत्तर आरणि बनाओ तथा जैसे मथन-दण्ड के बार-बार रगड़ने से छिपी हुई अग्नि प्रकट हो जाती है, वैसे उक्त अरणियों की ध्यान रूपी रगड़ से उस परम ज्योति को उत्पन्न करके देखो।

यहाँ देह का अर्थ अन्तःकरण है, उसकी ओर ओंकार रूप अरणि की रगड़ से परम ज्योति रूप ब्रह्म का साक्षात् सरलता से हो सकता है। इसी की पुष्टि में मुण्डकोपनिषद् का निर्देश है —'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्' अर्थात् 'प्रणव के द्वारा परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।' गीता (८।१३) में भी कहा है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥

अर्थात्—जो पुरुष ॐ रूप एकाक्षर ब्रह्म का उच्चारण करता हुआ तथा उसके अर्थ रूप मेरा चिन्तन करता हुआ शरीर छोड़ कर जाता है, वह परम गति को प्राप्त होता है।

प्रणव ही अमृत है

इस प्रकार ओंकर परम गति को प्राप्त कराने वाला है। जिसे उसकी उपलब्धि हो जाती है, वह जन्म-मरण के चक्र में कभी नहीं पड़ता, इसलिए उसे मृत्यु को जीत लेने वाला माना गया है। गोपथ ब्राह्मण का कथन है—अमृत वै प्रणवः, अमृतेनैव तन्मृत्युं तरति। तद्यथा मन्त्रेण वा वंशेन वा गर्तं संक्रमेत एवं तत्प्रणवेनोपसन्तनोति।' अर्थात् 'प्रणव ही अमृत है, उस अमृत के द्वारा मृत्यु को पार किया जाता है। जैसे मन्त्र से अथवा बाँसों के द्वारा गढ़े को लाँघते हैं। वैसे ही प्रणव रूप पुल के द्वारा पार करता है।'

यहाँ अमृत का अर्थ जीवन है, जीवन में प्रणव की उपासना करने से सिद्धि होती है और वह सिद्धि ही साधक को पुनर्जन्म से छुड़ा देती है।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार 'तमोंकारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति' अर्थात् 'वह विद्वान् पुरुष प्रणव का आश्रय लेकर उस शान्त, अजर अमर, अभय रूप परमात्मा को प्राप्त होता है।'

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है—'यश्छन्दमृषभो विश्वरूपः छन्दोभ्योऽध्यमृतात् सम्बभूव' अर्थात्, 'जो प्रणव वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, वह विश्वरूप और अमृतमय है।' इस प्रकार उपनिषदों में यत्रतत्र प्रणव को अमृत अथवा जीवन ही कहा है। वही प्राण है, उसी के द्वारा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है।

ओ३म् अक्षर ही सामगान की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया है, छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार 'ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत' अर्थात् 'इस ओ३म् अक्षर को ही, उद्गीथ समझ कर उपासना करनी चाहिए।'

उद्गथ का अर्थ है गायन-योग्य, ओ३म् गायन के योग्य है। क्योंकि उसी से नाद प्रकट हुआ है। जब साधक प्रणव का आश्रित होता है, तब उसे ब्रह्म-साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हो सकता है क्योंकि नाद के प्रणव में संलग्न होने पर जब वह ज्योतिर्मय हो जाता है, उस स्थिति में मन का लय हो जाता है, वही विष्णु का परम पद है।

ओंकार विषयक उपाख्यान

छान्दोग्य उपनिषद् में ओंकार की व्याख्या करते हुए एक उपाख्यान कहा गया है कि सात्विकी वृत्ति वाले देवताओं ने तामसी वृप्ति रूप मृत्यु से भयभीत होकर परम विद्या रूप वेदत्रय में प्रवेश किया और वेदमन्त्रों से अपने को ढक लिया, इस कारण वे सब छन्द-आच्छादक कहे जाने लगे। जैसे मछली पकड़ने वाला धीवर जल के भीतर स्थिति मछली को जान लेता है, वैसे ही मृत्यु ने उन देवताओं को ऋक्, यजुः और साम के कर्मों

में देख लिया उसके द्वारा अपने देखे जाने की बात देवताओं से भी छिपी न रही और उन्होंने ऋक्, यजुः तथा सोम के कर्मों से निकल कर स्वर अर्थात् ॐ में प्रवेश किया। इस प्रकार वे वैदिक कर्मकाण्ड को छोड़ कर शुद्ध ब्रह्म की उपासना करने लगे। जब कोई मनुष्य ऋग्वेद की ऋचाओं को जान लेता है, तब वह ॐ का ही उच्चारण करता है। इसी प्रकार यजुर्वेद और सामवेद का ज्ञान प्राप्त कर लेने वाले साधक अत्यन्त श्रद्धा और आदर पूर्वक ओ३म् का उच्चारण करते हैं। इस प्रकार ओ३म् रूपी स्वर ब्रह्म का प्रतीक है, जिसमें प्रविष्ट होने के कारण देवगण अमर और अभय होगए। इस प्रकार ओंकार को अमृत और अभय गुण वाला जानकर जो उसकी उपासना करता है, वह देवताओं के समान स्वरूप प्रणवब्रह्म में प्रविष्ट होकर मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है।

वस्तुतः प्रणव समस्त वेद मन्त्रों का समन्वय स्वरूप है, इसलिए सभी वेदों का सार माना जाता है। अनेक विद्वान् उसे ब्रह्म का चिन्मय विग्रह मानते हैं। अथर्व वेद में अनेक स्थानों पर ॐ के लिए 'परमे व्योमत्' पद का प्रयोग हुआ है। उससे उसकी महानता और सर्व विशिष्टता ही सिद्ध होती है।

योगाचार्यों ने भी प्रणव को ईश्वर का पर्याय मानते हुए चित्त-वृत्तियों के निरोध को योग माना है। परन्तु चित्तवृत्ति का निरोध कोई सामान्य कार्य नहीं है। उसके लिये सफल साधन का निर्देश करते हुए महर्षि पतञ्जलि अपने योग दर्शन में कहते हैं—

'तस्य वाचकः प्रणवः' (१।२७) 'तज्जपस्तदर्थ भवनम्' (१।२८) 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च' (१।२९) अर्थात् 'उस ईश्वर का वाचक 'प्रणव' है। उस प्रणव के अर्थों पर विचार करते हुए जप करे। ऐसा करने से प्रत्येक चेतन (अंतकरण) में स्थिति परमात्मा का साक्षात्कार होने लगता है और सात्विक् एकाग्रता के सभी अन्तरायों (विघ्नों) का नाश हो जाता है।

अथर्वशिरोपनिषद् ने भी योग-दर्शन के समान ही स्वीकार किया है कि 'प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात्प्रणवः' अर्थात् 'जिसके स्मरण और ध्यान से प्राण की सभी वृत्तियाँ परमात्मा में लीन हो जाती हैं जिसके कारण आत्मविस्मृति युक्त तन्मयता की अवस्था होती है, उसी को प्रणव कहते हैं।

प्रणव का व्यापक प्रभाव

प्रणव की व्यापकता के कारण शास्त्रकारों ने उसके अनेक आशय व्यक्त किये हैं। उससे विभिन्न प्रकार के फलों की भी प्राप्ति होती है। शिवपुराण ने प्रोहि प्रकृति जातस्य संसारस्य महोदधे' इत्यादि से सूतजी के द्वारा निर्देशित कराया है कि वह प्रकृति के द्वारा प्रकट हुए संसार सागर से तारने के लिए नौका स्वरूप होने के कारण प्रणव ही है अथवा 'प्र' से प्रपंच, 'न' से नहीं और 'व' से तुममें अर्थात् आत्मा में प्रपंच नहीं है। अथवाप्रकृष्टता से जप करने वालों और मंत्र-पूजकों के कर्मों को क्षीण करके दिव्य ज्ञान देने वाला होने से यह प्रणव कहलाता है। अथवा—

> ब्रह्मादिस्थावरान्तानां सर्वेषां प्राणिनां खलु।
> प्राणः प्रणव प्रवाय तस्मात्प्रणव ईरितः ॥

अर्थात्—ब्रह्माजी से लेकर स्थावर पर्यन्त यह सभी प्राणियों का प्राण होने के कारण इसका नाम 'प्रणव' है।

शतपथ ब्राह्मण ने ॐ शब्द का वाच्यार्थ करते हुए कहा है—'त्रयो वै देवाः. वासवो रुद्रा आदित्या, तेषां विभक्तानि सवनानि, वसूनामेव प्रातः सवनम्, रुद्राणां माध्यन्दिन सवनम्, आदित्यानां तृतीयं सवनम्' अर्थात् तीन ही वैदिक देवता हैं—वसु, रुद्र और आदित्य उनके सेवन भी तीन हैं-प्रात सवन, माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन। इनमें प्रातः सवन वस्तुओं का

मध्याह्न सवन रुद्रों का और तृतीय सवन आदित्यों का कहा है। यह तीनों देव और तीनों सवन क्रमशः अ, उ, म् ही हैं।

इस प्रकार शास्त्रों ने ॐ को ब्रह्मरूप और सर्वोपरि मानकर उसकी महिमा को व्यक्त किया है। ॐ शब्द का ध्यान आते ही साधक को परमात्मा का ध्यान स्वतः हो जाता है। इसलिए ॐ को परमात्मा से अभिन्न मानकर उसकी उपासना का निर्देश दिया गया है।

गायत्री मन्त्रों का आरम्भ ओंकार से होता है। वैसे गायत्री मंत्र का अस्तित्व पृथक् है, फिर भी उसके पूर्व ओंकार का लगाया जाना उसकी अभिन्नता प्रकट करता है। देवी भागवत् के अनुसार—

ओंकार पितृरूपेण गायत्री मातरं तथा।
पितरौ यो न जानाति स विप्रस्त्वन्यरेतजः॥

अर्थात्—जो ब्राह्मण ओंकार को पिता रूप और गायत्री को माता रूप नहीं जानता उसे अन्य वीर्य (अधम) समझना चाहिये।

गायत्री की तीन व्याहृतियाँ

ओंकार के पश्चात् ही गायत्री मन्त्र का आरम्भ होता है। उसकी भूः, भुवः, स्वः तीन व्याहृतियाँ हैं। यह व्याहृतियाँ तीनों लोक की प्रतीक और सत्, चित्, आनन्द स्वरूप हैं। उनके द्वारा परमात्मा की सृष्टि, स्थिति और संहारमयी सामर्थ्य का प्राकट्य होता है व्याहृति का अर्थ है—सम्पूर्ण विराट् का ज्ञान कराने वाली। इससे यह अर्थ सिद्ध होता है कि गायत्री की तीनों व्याहृतियों से परमात्मा के विराट् स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रथम व्याहृति 'भूः'

गायत्री मन्त्र की प्रथम व्याहृति या प्रथम अक्षर 'भूः' है। उसके उच्चारण के साथ ब्रह्म में तन्मय हुआ साधक जब सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था

को प्राप्त हो जाता है, तब उसे अनुभव होने लगता है कि उसके भीतर जो प्राण है, वह परमात्मा से ही स्फुरण को प्राप्त हो रहा है। बृहादारण्यक ने 'प्राणस्य प्राणम्' कह कर ब्रह्म को ही प्राण का भी प्राण कहा है। ऋग्वेद के अनुसार 'देवानां समवर्त्ततासुरेकः' अर्थात् 'वह एक ही सम्पूर्ण देवताओं का प्राण है।'

भूरिति वा अय लोकः' अथवा 'भूरिति वा अग्निः' अथवा 'भूरिति वै प्राणः' (तैत्तिरीयोपनिषद्) अर्थात् 'भू' इहलोक (पृथिवी) है, भूः अग्नि है, भूः ही प्राण है।' सर्व रूप होने के कारण पृथिवी, तेजोमय होने के कारण अग्नि और जीवन देने वाला होने के कारण प्राण है। यह इससे यौगिक अर्थ समझने चाहिये। महर्षि दयानन्द ने भूः शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है—'प्राणयति जीवयति सर्वान् प्राणिनः स प्राणः प्राणादपि प्रियस्वरूपो वा स चेश्वर एव' अर्थात् 'जो समस्त प्राणियों को प्राणरूप से जीवन देता है तथा उसका स्वरूप प्राण से भी प्रिय है वह ईश्वर भूः कहलाता है, प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में 'प्राणोऽग्निः परमात्मा' कह कर बताया गया है कि 'प्राण ही अग्नि है और वही परमात्मा है।' अथर्व वेद में प्राण को ही परमेश्वर मानते हुए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को उसी का आश्रित बताया गया है। यथा—

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्व प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात्—'उस प्राण को नमस्कार है, जिसके वश में यह सभी कुछ है। जो सभी भूतों का ईश्वर और सभी को अपने आश्रय में रखने वाला है।' इससे 'प्राण' का प्रयोग ईश्वर के अर्थ में ही हुआ सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्र ने भी ऐसा ही कहा है—'अतएव प्राणः' अर्थात् 'इसलिए ईश्वर प्राण ही है।'

छान्दोग्य में 'प्राणेति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणवमाभि संविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते' से स्पष्ट कहा गया है कि 'यह

समस्त भूत प्राण में ही प्रवेश करते और प्राण ही सब भूतों में प्राणन क्रिया करता, उन्हें जीवन देता और जीवित रखता है।

द्वितीय व्याहृति 'भुवः'

गायत्री की दूसरी व्याहृति 'भुवः' का अर्थ अनेक विद्वानों ने दुखों से मुक्त कराने वाला किया है तैत्तिरीय उपनिषद् ने भुवः के प्रमुख रूप से तीन स्वरूप व्यक्त किए हैं—'भुव इत्यन्तरिक्षम्' अथवा 'भुव इति वायुः' अथवा 'भुव इत्यपानः' अर्थात् भुवः अन्तरिक्ष है, भुवः वायु है, भुवः अपान है।' विशाल होने के कारण अन्तरिक्ष, व्यापक होने के कारण वायु और रक्षक होने के कारण अपान है।

महर्षि दयानन्द ने भुवः शब्द की व्याख्या करते हुएकहा है—यो मुमुक्षूणां मुक्तानां स्वसेवकानां धर्मात्मनां सर्वं दुःखमपानयति दूरीकरोति सोऽपानो दयालुरीश्वरोऽस्ति' अर्थात् 'जो मुमुक्षुओं, जीवन्मुक्त पुरुषों और अपने धर्मात्मा सेवकों (भक्तों) को सभी दुःखों से मुक्त करके सुख में स्थित करता है, वह दयामय परमेश्वर 'अपान' कहलाता है।

इस प्रकार अपान को दुःख दूर करने वाला कहा गया है। इससे स्वास्थ्य रक्षा की ओर भी संकेत है। यदि अपान व्यवस्थित और नियमित है तो उदर में कोई विकार नहीं रह सकता। इसलिए अपान को वश में रखते हुए ही जीवन-यापन करना चाहिए। अथवा इसका एक अर्थ यह भी है कि गायत्री की उपासना करने वाले मनुष्य को उदर-विकारों से पीड़ित नहीं होना पड़ता और उदर-विकार ही सब रोगों की जड़ होते हैं, जब जड़ ही नहीं, तो अन्य विकारों और रोगों की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है। इसलिए गायत्री मन्त्र को सभी रोगों का नाशक समझना चाहिए।

छान्दोग्य ने हृदय के पाँच छिद्र प्रतिपादित किये हैं, जो कि शरीरस्थ पंच वायु सम्बन्धित हैं। उनमें व्यान को दक्षिण छिद्र बता कर कहा है

कि उसकी (व्यान की) उपासना करने वाला मनुष्य तेजस्वी और अन्न का भोक्ता होता है। ध्यानबिन्दूपनिषद् के अनुसार प्राण और अपान दोनों ही समान रूप से शक्तिशाली हैं। अपान प्राण को खींचता है। इस प्रकार प्राण-अपान के मेलन की यह क्रिया योग-विधियों में वर्णन की हुई हैं, जिसके अभ्यास से कुण्डलिनी-जागरण में सहायता मिलती है। और उसके द्वारा सभी दैहिक और भौतिक दुःखों का अभाव हो जाता है।

तीसरी व्याहृति 'स्वः'

गायत्री की यह तीसरी व्याहृति भी परमात्मा का ही अर्थ प्रतिपादन करती है। कुछ आचार्य इसका अभिप्राय सुख, आनन्द और ब्रह्म बताते हैं। कुछ के मत में यह सर्व सुख का देने वाला अथवा परमानन्द का देने वाला है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार 'सुवरित्य सौ लोकः' अथवा 'सुवरित्यादित्यः' 'अथवा' सुवरिति व्यानः' अर्थात् 'स्वः स्वर्गलोक है, स्वः आदित्य अथवा स्वः व्यान है।' इसके यौगिक अर्थ हुए सुख-दाता होने से आदित्य और चेष्टा कराने वाला होने से व्यान है।

महर्षि दयानन्द ने स्वः के अर्थ में इस प्रकार प्रतिपादन किया है—'यदभिव्याप्य व्यानयति चेष्टयति प्राणादि सकल जगत् स व्यानः सर्वाधिष्ठानं वृहद्ब्रह्मेति खल्वपं स्वः शब्दार्थोऽस्तीति मन्तव्यम्' अर्थात् 'जो सम्पूर्ण विश्व में व्यापक रहता हुआ सभी को नियम में रखता और चेष्टा युक्त करता है, वह सभी का अधिष्ठान महान् ब्रह्म ही है। इसलिए उस परब्रह्म परमात्मा को स्वः कहते हैं।'

छान्दोग्य के अनुसार 'व्यान हृदय का दक्षिण छिद्र है, उसकी उपासना करने वाला साधक यशस्वी और श्रीमान् हो जाता है।' व्यान की स्थिति शरीर के सभी अंग-प्रत्यंगों में मानी गई है। यदि उस व्यान को नियम में रखा जा सके तो समूचा शरीर ही रोगों या विकारों से बचा

रह सकता है। योग-क्रियाओं के द्वारा ध्यान ही क्या, प्राणादि सभी वायुओं को नियमित रखते हुए दीर्घजीवन की प्राप्ति अवश्य की जा सकती है।

जीवात्मा और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं। परमात्मा पूर्ण है, परन्तु जीवात्मा पूर्ण नहीं हो सकता। इसीलिए उसे अनेक कष्टों का सामना करना होता है। आप बहुत से मनुष्यों को सुखी देखते होंगे, परन्तु उस सुख का यह अभिप्राय नहीं कि उसे किसी प्रकार का दुःख है ही नहीं। धरती का धर्म ही सुख और दुःख दोनों का होना है। मनुष्य कैसा भी धार्मिक या सात्विक प्रवृत्ति का क्यों न हो, उसे दोनों का ही सामना करना होता है। ऐसा कोई नहीं है जो अपने को पूर्ण रूप से सुखी कह सके।

परमात्मा सत्, चित्, आनन्द है. जब कि जीवात्मा में आनन्द का अभाव है। वह तो केवल सत्, चित् ही है। यदि उसमें भी आनन्द की विद्यमानता हो तो वह भी परमात्मा से किसी भी बात में कम नहीं रह सकता। आनन्द का अभाव होने क कारण ही आचार्यों ने उसे अपूर्ण माना है। वह अपने उस अभाव को गायत्री मन्त्र के द्वारा पूर्ण कर सकता है। उसमें जो 'स्वः' नाम की व्याहृति है, वह साधक की उस कमी को पूरी करने में समर्थ है।

गायत्री उपासक की याचना

और इसीलिए गायत्री का उपासक परमात्मा से निवेदन करता है कि मुझे आनन्द दीजिए। वह सुख नहीं, आनन्द की याचना करता है। सुख और आनन्द में अत्यन्त भेद है। सुख का अर्थ है भौतिक दुःखों का अभाव, परन्तु वह कर्मों के शेष रहते हुए सम्भव नहीं है। वह तो तभी कर्मों तो तभी सम्भव हो सकता है, जबकि उन्हें पूर्ण

रूप से निःशेष करने के लिए गायत्री रूपी उपासना की जाय। उस उपासना में 'स्वः' शब्द का उच्चाहरण करता हुआ उपासक परमात्मा से उसी आनन्दामृत की प्रार्थना करता है।

सरस्वती रहस्योपनिषद के रचयिता का कथन है कि 'जब शारीरिक अहंभाव मिटने पर परमात्म तत्व का अनुभव होता है, तब मन जहाँ-जहाँ पहुँचता है, वहीं-वहीं वह श्रेष्ठ अमृतत्व का अनुभव करता हुआ आनन्द को प्राप्त होता है। उस समय सभी संशय दूर होकर हृदय की गाँठें खुल जाती हैं और ब्रह्म के साक्षात्कार से सभी कर्मों का क्षय हो जाता है।

सुख, दुःख की निवृत्ति ही आनन्द है

आनन्द क्या है ? इस विषय में सर्व मान्य मत यह है कि दुःख-सुख की पूर्ण रूप से निवृत्ति ही आनन्द है। अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार—

संशान्त दुःखमजडात्मकैकसुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत्।
आकाशकोश तनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन् पदे गलितचित्तलवा भवन्ति ॥

अर्थात्—उसमें दुःखों का पूर्ण रूप से शमन हो जाता और जड़ता का भाव भी नहीं रहता। उस समय केवल सुषुप्ति ही रहती है। तब वह आनन्द से व्याप्त रहता है तथा रजोगुण और तमोगुण का सर्वथा अभाव हो जाता है। आकाशकोश के समान सूक्ष्म, शरीर-रहित होने पर ही उस परमानन्द पद की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार दुःख के ही अभाव को आनन्द नहीं कहते, वरन् उसमें दुःख और सुख दोनों का ही अभाव होना आवश्यक है। क्योंकि जब तक इनमें से कोई एक भी रहेगा, तब तक सांसारिक प्रवृत्ति के रहते हुए सुख तो हो सकता है, परन्तु आनन्द नहीं हो सकता।

आनन्द को प्राप्ति के लिए परमात्मज्ञान अपेक्षित

उस आनन्द की प्राप्ति के लिए परमात्मा का जानना आवश्लक है। वह क्या है ? कैसा है ? इत्यादि का विवेचन करते हुए ही उसके साक्षात्कार का अनुभव हो सकता है। वह परमात्मा कला-रहित, कर्म-रहित, निर्दोष निर्मल, सुशान्त, अमृत का सेतु रूप एवं अग्नि के समान तेजस्वी है। उस परमानन्दमय परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किये बिना परम सुख की प्राप्ति सर्वथा असम्भव है। श्वेताश्वर उपनिषद् का कथन है—

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

अर्थात्—जब कभी मनुष्यों में इतनी सामर्थ्य उत्पन्न हो जायगी कि वे आकाश को चमड़े के समान लपेट सकेंगे, तब यह हो सकता है कि परमात्मा को जाने बिना ही दुःखों का नाश हो जाय।

और उस प्रकार की सामर्थ्य मनुष्य तो क्या देवताओं और दैत्यों में भी सम्भव नहीं है। इसलिये आचार्यों ने परमात्म ज्ञान की प्रेरणा दी है। गायत्री की इस व्याहृति में भी परमानन्दमय परमात्मा को जानने और उससे परमानन्द की याचना करने की प्रेरणा निहित है।

इस प्रकार स्वः का अर्थ दुःख को नष्ट करके सुख देने वाला या आनन्द देने वाला हुआ। व्यान के नियंत्रित रहने पर भी शारीरिक सुख की प्राप्ति होती है क्योंकि व्यान समूचे शरीर में व्याप्त रहता है जो लोग इसका अर्थ 'ब्रह्म' करते हैं, उनका दृष्टिकोण भी असत्य नहीं है। क्योंकि आनन्द का देने वाला तो ब्रह्म ही हो सकता है।

और तीनों व्याहृतियों—भूः भुवः स्वः का सम्मिलित अर्थ हुआ प्राण का आश्रय स्थान, प्राण का अधीश्वर, दुःख को नष्ट करने और सुख को देने वाला। सत्-चित्-आनन्द ब्रह्म अथवा अनन्त गुण सम्पन्न परमात्मा। अथवा पृथिवी, आकाश और स्वर्ग तीनों लोक स्वरूप सृष्टि,

जिसमें ब्रह्म के सर्वात्मक रूप से व्याप्त होने के कारण परब्रह्म रूप ईश्वर ही है।

'तत्' शब्द और उसका महत्व

'तत्' शब्द का महत्व भी कुछ कम नहीं है। गायत्री रहस्योपनिषद् ने 'तदिति ददसौ तेजोमयं तेजोऽग्निर्देवता' अर्थात् 'तत् शब्द तेजोमय है और उसमें जो तेज है वह अग्निदेवता रूप ही है।'

वस्तुतः 'तत्' शब्द का अर्थ 'वह' है। वह कौन ? परम तेजोमय अग्नि अथवा सूर्य। गायत्री तन्त्र के अनुसार 'तत्कारं चम्पकापीतं ब्रह्म विष्णु शिवात्मकम्' अर्थात् 'तत् शब्द चम्पा के पुष्प के समान पीत वर्ण का और ब्रह्मा-विष्णु-शिव रूप है।' अथवा 'परस्य ब्रह्मणो रूपं तकारं त्रिगुणात्मकम् अर्थात् 'तत् शब्द परब्रह्म का त्रिगुणात्मक स्वरूप है।' इससे समझना चाहिए कि तत् शब्द सत्व, रज और तम तीनों गुणों से युक्त है।

जगत् त्रिगुणात्मक है, जीव का शरीर भी तीनों गुणों से युक्त है और जब 'तत्' शब्द को भी त्रिगुणात्मक कहा है तो यह भी जगत् रूप है। इस प्रकार 'तत्' शब्द सगुण ब्रह्मरूप है इससे सिद्ध होता है कि गायत्री मन्त्र में सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की उपासनाओं का संकेत मिलता है।

गायत्री मंत्र का प्राण 'सवितुः'

'तत्' के पश्चात् 'सवितुः' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह शब्द अकेला ही बहुत महत्वपूर्ण है तो मन्त्र के साथ प्रयुक्त होने में उसकी महिमा और भी अधिक बढ़ जाने में आश्चर्य ही क्या है ? सविता का अर्थ सूर्य किया जाता है, परन्तु उसका वह अकेला ही अर्थ नहीं है। सावित्र्युपनिषद् ने तसोविता के अनेकों अर्थ किये हैं। उसमें बार-बार यह प्रश्न हुआ है

कि सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे ? उसके उत्तर में कहा गया है कि अग्नि सविता और पृथिवी सावित्री है। फिर कहा है कि वरुण सविता और जल सावित्री है। इस प्रकार सविता के लिये वायु, यज्ञ, मेघ, सूर्य, चन्द्रमा, मन और पुरुष तथा सावित्री के लिये आकाश, छन्द, विद्युत्, द्युलोक, नक्षत्र, वाणी एवं स्त्री कहा है। परन्तु गोपथ ब्राह्मण ने 'चन्द्रमाः सविता प्राण एवं सविता विद्युद्-देव सविता कहकर सविता का अर्थ चन्द्रमा, प्राण, तथा विद्युत् भी किया है।

श्वेताश्वर उपनिषद् में 'तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्य प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी' अर्थात् 'उस समय केवल यह अविनाशी देव सविता ही वरणीय होते हैं, जिनसे प्राचीन ज्ञान का प्रसार हुआ है।' शतपथ ब्राह्मण के अनुसार 'असौ वै देवः सवितेति' अर्थात् यही देव (ब्रह्म) सविता है।'

महर्षि दयानन्द ने सविता शब्द की व्याख्या करते हुए 'पंच-महायज्ञ विधि में कहा है—'सुनोति सूयते सुवति वोत्पादयति सृजति सकलं जगत् स सर्वपिता सर्वेश्वरः सविता परमात्मा तस्य, सवितुः प्रसवे' अर्थात् 'जो सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति करता है वह सब का पिता, सब का ईश्वर सविता परमात्मा है अर्थात् यह जगत् सवितादेव द्वारा ही उत्पन्न किया गया है।

'एष हि खल्वात्मा संविता' 'मै०उ०) अर्थात् 'अवश्य ही यह सविता ही सब प्राणियों का आत्मा है' सूर्योपनिषद् में सूर्य की स्तुति करते हुए कहा गया है—'सविता पुरस्तात् सविता पश्चात्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताऽधरात्तात्, सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः' अर्थात् 'सवितादेव हमारे आगे, पीछे, उधर-उधर, धरती-आकाश आदि में सर्वत्र हैं। वे सवितादेव हमारे निमित्त सब कुछ उत्पन्न करें और हमको दीर्घजीवी बनावें।' इस प्रकार यह याचना सूर्य से भी हो सकती है और ब्रह्म से भी इसलिए यह शब्द दोनों का ही वाचक है।

सविता-सावित्री का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध

वाल्मीकि रामायण में सविता और सावित्री के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध की ओर संकेत करते हुए सविता सावित्री विद्या को बला-अतिबला के नाम से दो शक्तिशाली विद्याओं का उल्लेख किया गया है। महर्षि विश्वामित्र ने श्रीराम-लक्ष्मण को इन विद्याओं का उपदेश तब किया था, जब कि वे अपने यज्ञ की रक्षा के लिए उन्हें दशरथजी से माँग कर लाये थे। महर्षि विश्वामित्र सावित्री के ऋषि होने के कारण उससे सम्बन्धित विद्याओं के श्रेष्ठ उपदेष्टा थे। क्योंकि उन्होंने तपश्चर्या के द्वारा अभूतपूर्व सामर्थ्य को प्राप्त किया था। उन्होंने सविता की शक्ति को अपने में इस प्रकार केन्द्रीभूत किया था कि उसके द्वारा वे जो चाहते, वही करने में समर्थ थे। सावित्री-उपनिषद् में इसके ध्यान का निर्देश करते हुए कहा है—

अमृतकरतलाग्रौ सर्वसंजीवनाढया-
वघहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखे ।
प्रणवमयविकारौ भास्कराकारदेहौ--
सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ ।।

अर्थात्—मैं उन बला-अतिबला विद्याओं के देवताओं को सदैव अनुभव करता हूँ जो सूर्य के समान चमकते हुए शरीर वाले, प्रणव स्वरूप, किरणात्मक वेदों के सार रूप, पापों को नष्ट करने में दक्ष, सब प्रकार की संजीवनी शक्तियों से अधिष्ठित तथा अमृत से परिपूर्ण हाथों वाले हैं।

बला-अतिबला विद्याएँ और गायत्री

इस प्रकार सविता-सावित्री से सम्बन्धित यह बला-अतिबला विद्याएँ अवश्य ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यों, शक्तियों, सिद्धियों से सम्पन्न होने के कारण

साधकों को परम सिद्धि प्रदान करने वाली हैं, इनमें जो चमत्कार भरा हुआ है, उससे सभी आकाँक्षाएँ पूर्ण हो जाती हैं।

महर्षि विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को यह विद्याएँ प्रदान करते हुए कहा था—'इनके प्रभाव से तुम्हें कभी श्रम का अनुभव नहीं होगा, ज्वरादि रोग तुम्हें पीड़ित नहीं करेंगे और तुम्हारे रूप में कभी कोई विकृति नहीं आ सकेगी। यदि तुम निद्रित या असावधानी की अवस्था में होंगे, तब भी राक्षस तुम पर आक्रमण नहीं कर सकेंगे। तुम्हारे अद्वितीय बाहुबल का कभी कोई सामना न कर सकेगा और तीनों लोकों में ऐसा कोई भी न होगा जो तुम्हारे समक्ष आ सके। तुम ज्ञान, बुद्धि, दक्षता एव सौभाग्य में अतुलनीय रहोगे। यह दोनों विद्याएँ सब प्रकार के ज्ञान की जननी हैं तथा इनके द्वारा भूख, प्यास पर विजय प्राप्त होगी और सम्पूर्ण विश्व की रक्षा में समर्थ होंगे।'

इस प्रकार सविता और सावित्री की सम्मिलित शक्ति अत्यन्त कल्याणकारी है। इनके सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली शक्ति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिक भी खोज कर रहे हैं। उनकी खोज का विषय यह है कि गायत्री मन्त्र के उच्चारण से ईथर तत्त्व में जिन कम्पनों की उत्पत्ति होती है, उनसे सूर्य का क्या सम्बन्ध हो सकता है तथा गायत्री मन्त्र के 'सवितुः' शब्द की ध्वनि से सूर्य की स्थूल शक्ति को किस सीमा तक आकर्षित किया जा सकता है।

वैज्ञानिकों का मत

वैज्ञानिकों की यह मान्यता तो है ही कि मनुष्य के मस्तिष्क एवं बुद्धि का उद्गम स्थान प्रकृति के सामूहिक मस्तिष्क या मन में सन्निहित है और उससे इलेक्ट्रोन के रूप में शक्ति प्राप्त होती रहती है। इस लिए गायत्री मन्त्र में 'सवितुः' शब्द से जिसकी उपासना की जाती है, वह सूर्य से सम्बन्धित है तथा सूर्य और ब्रह्म में अभिन्नता है। बाल्मीकि

रामायण में भगवान् राम ने सूर्य की स्तुति करते हुए उनकी जिस सामर्थ्य को स्वीकार किया है, वह अवलोकनीय है। यथा 'रश्मिवन्तं समुद्यन्तं देवा सुर नमस्कृतम्, पूजयस्व विवस्वन्तं भास्करं भुवनेश्वरम्' अर्थात् 'किरणों से समन्वित तथा देवताओं और दैत्यों (आदि) से नमस्कार किए हुए, उन लोकाधिपति विवस्वान् भास्कर का पूजन करते हैं।'

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान् भास्कर की अद्वितीय सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। देवता, दैत्य, मनुष्य अथवा अन्यान्य सभी चराचर प्राणी उनको नमस्कार करते और नवजीवन प्राप्त करते हैं। क्योंकि सूर्य ही सब प्राणियों में प्राणरूप से विद्यमान हैं। सूर्योपनिषद् के अनुसार—

सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च॥

अर्थात्—सूर्य से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, सूर्य ही सबका पालन करते हैं और अन्त में सब प्राणी उन्हीं में लीन हो जाते हैं, जो सूर्य है, वह मैं हूं अर्थात् आत्मा और परमात्मा में ऐक्य है।

'वरेण्यम्' में ब्रह्म की भावना

गायत्री मन्त्र का यह शब्द भी उसी परब्रह्म की ओर संकेत करता है जो दुःख-नाशक, सुखदायक और सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाला है। 'वरेण्यम्' का अभिप्राय वरण करने योग्य से है और वरण नहीं किया जाता है जो अपने लिये हितकर हो, जो अपने लिए सम्पूर्ण वैभव प्रदान कर सकता हो अथवा कल्याणकारी ज्ञान दे सकता हो।

अथवा वह भी वरणीय हो सकता है, जो उपासना करने योग्य हो, जिसकी भक्ति-भाव से पूजा की जा सकती हो, जिसका पूर्ण रूप

से आश्रय लिया जा सकता है। और यह सभी सामर्थ्य परब्रह्म में ही हो सकती है। वही भक्ति, ज्ञान, उपासना आदि के योग्य है, उसी का गुण-कीर्तन प्राणिमात्र के लिए श्रेयस्कर हो सकता है, उसी के ध्यान से सर्व प्राप्ति रूप मोक्ष की उपलब्धि सम्भव है।

'वरेण्यमित्यत्र प्रजापतिः' (गा. र. उ.) अर्थात् 'वरेण्यम्' शब्द प्रजापति का वाचक है। यहाँ शंका होती है कि प्रजापति कौन है ? इस शंका का समाधान श्वेताश्वर उपनिषद् की निम्न मान्यता से स्वतः ही हो जाता है। यथा—

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं
ज्ञः कालाकालो गुणो सर्वविद्यः
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह ॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥

अर्थात्—यह सम्पूर्ण संसार जिस परमात्मा से व्याप्त है, वह परमात्मा काल का भी काल, सब का जानने वाला और सभी गुणों से सम्पन्न है। यह विश्वरूप कर्म उसी की व्यवस्था से संचलित है तथा तेज, वायु और आकाश भी उसी के द्वारा नियमित रहते हैं।

सब के कर्मों का नियामक ब्रह्म

उस 'एको देवः भूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्व भूतान्तरात्मा' ब्रह्म का जानना आवश्यक है। क्योंकि वही सब के कर्मों का नियामक सभी का आश्रयभूत, सभी का साक्षी, चेतन स्वरूप एवं निर्गुण है। वह अकेला ही असंख्य प्राणियों को वश में रखता और एक ही बीज को विभिन्न रूपों में कर देता है। उस हृदय में निवास करने वाले ब्रह्म का जो ज्ञानी पुरुष निरन्तर दर्शन करते हैं, उन्हें शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है। इसलिए—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः
परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं
देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥

अर्थात्—वह सभी रूप परमात्मा त्रिकाल से परे, कलाओं से परे तथा प्रकृति और जीव का संयोग कराने वाला है। वह हमारे अन्तःकरण में निवास करने वाला, विश्वरूप, अनादि एवं संसार के रूप में प्रकट है, उस स्तुति-योग्य पुराण पुरुष की साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार का परमात्मा ही वरेण्य हो सकता है और इसलिए हमारे आचार्यों ने उसकी ही साधना का निर्देश किया है। शास्त्रों का यह भी स्पष्ट निर्देश है कि जिस वस्तु की भी इच्छा हो उसकी याचना परमात्मा से ही करनी चाहिए। क्योंकि वही अन्न, धनः स्त्री, पुरुष, सन्तान, सम्मान, तथा यश आदि का देने वाला है। यहाँ तक कि मोक्ष का आनन्द भी वही प्रदान कर सकता है। इसलिए गीता में भगवान् ने स्वयं ही कहा है 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज' सभी धर्मों का त्याग करके केवल मेरी ही शरण में आ।' अब उसी की शरण में जाना अनिवार्य है, तब अन्य कोई 'वरेण्य' कैसे हो सकता है।

इसी गायत्री-उपासक को भी सब धर्मों के आश्रयों को त्याग कर, सर्व समर्पण द्वारा परमात्मा को ही वरण करना चाहिए। यही 'वरेण्यम्' का अभिप्राय है और समूचा गायत्री मन्त्र भी ऐसा ही अभिप्राय व्यक्त करता है।

परब्रह्म का अद्वितीय गुण भर्गः

भर्गः परमात्मा का अद्वितीय गुण है। वही तेज है और वही ज्योति है। परमात्मा का ज्योतिर्मान या ज्योतिस्वरूप होने का कारण उसी की अपनी ही दीप्ति है,जिसे आचार्यों ने 'भर्गः' कहा है। निरुक्त के अनुसार-

'भर्गस्तेजः प्रकाशः प्रकाशोन्तानम्, यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुण शुद्धं सकलदोषरहितं परमार्थ विज्ञाकस्वरूपं तद् भर्गः' अर्थात् 'भर्ग तेज, प्रकाश एव ज्ञान रूपी प्रकाश स्वरूप है, जो उपद्रव-रहित, पाप-रहित, गुण-रहित, शुद्ध, सब दोषों से रहित, परिपक्व तथा परमार्थ विज्ञान रूप है उसी को भर्ग समझना चाहिए।

गायत्री रहस्योपनिषद् ने भर्ग को जल का प्रतीक कहा है (भर्गः इत्यापो वै भर्गः) इससे भी यह परमात्मा का ही गुण प्रतीत होता है। मनुस्मृति ने सृष्टि-वर्णन के प्रसंग में कहा है—

सो अभिध्याय शरीरात्स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्॥ (१।८)

अर्थात्—जब परमात्मा ने यह इच्छा की कि अपने शरीर से अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करूँ तो उसने सर्व प्रथम जल की उत्पत्ति की और उस जल में बीज डाला।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि जल से उत्पन्न हुई और वह जल परमात्मा से उत्पन्न हुआ। इसी अध्याय के दशवे श्लोक में 'अप' शब्द का अन्य अर्थ करते हुए स्पष्ट कहा है—

आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
तायदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥

अर्थात्—आपः को नार कहते हैं तथा नर की सन्तान भी नार अर्थात् आपः कहलाती है और आपः या नार का अयन (घर) होने के कारण परमात्मा नारायण कहलाता है।

इस प्रकार भी भर्ग शब्द 'नारायण' संज्ञक ब्रह्म का वाचक है। गोपथ ब्राह्मण के अनुसार 'गायत्र्येव भर्गः तेजो वै गायत्री' अर्थात् 'गायत्री ही भर्ग है और तेज ही भर्ग है।' क्योंकि विद्वानों ने इसका अर्थ विभिन्न भाँति का ऐश्वर्य भी किया है, तो ऐश्वर्यवान् पुरुष में तेज का भी समावेश होना चाहिये। एक व्यक्ति चिन्ताग्रस्त है और दूसरे कोई चिन्ता

नहीं है तो उनमें से चिन्ताग्रस्त व्यक्ति का मुख मण्डल फीका या निस्तेज दिखाई देगा, जबकि चिन्ता रहित मनुष्य के मुख पर तेज दमकता रहेगा।

मैत्र्युपनिषद् ने भर्ग के तीन अक्षरों में 'भ' का अर्थ लोकों को प्रकाशित करने वाला, 'र' का अर्थ प्राणियों को आनन्द देने वाला तथा 'ग' का अर्थ सर्ग, स्थिति और प्रलय का कारण रूप कहा है। इसका अभिप्राय भी परमात्मा ही है। इस सब से सही सिद्ध होता है कि गायत्री मन्त्र के 'भर्गः शब्द में परमात्मा का वह गुण समाविष्ट है, जो कि मनुष्य के पापों को दग्ध करने और पुन्य से उपलब्ध होने वाले आनन्द को प्राप्त कराने में समर्थ है। और यजुर्वेद के अनुसार 'यस्यच्छायाऽमृत' अर्थात् 'उसकी छाया (आश्रय) को प्राप्त करने वाले पुरुष जीवन-मरण से मुक्त हो जाते हैं।'

'भर्ग' का पाप-नाशक अर्थ इस तथ्य की ओर भी संकेत करता है कि पाह-कर्मों से सदा दूर रहना चाहिए। ऐसा कोई कार्य कभी न करे जिससे वासनाओं और ऐषणाओं का बन्धन बुरी तरह जकड़ ले और किसी प्रकार भी उनसे न छूटने दे। क्योंकि वैसे कार्य ही मनुष्य के लिये पूर्ण बन्धन स्वरूप होते हैं।

भर्ग से भगवद् भजन का अभिप्राय

यदि भर्ग के अर्थ पर विचार करें तो भृज धातु का अर्थ भजन बनता है तथा भंज् धातु का अर्थ है आमर्दन। यह दोनों ही धातु भजन करने वाले भक्तों के पापों का भर्जन करने के अर्थ का प्रतिपादन करती हैं। इसलिए इससे मनुष्य को भगवत्भजन में चित्त लगाते हुए अपनी श्रेय प्राप्ति के उपाय में लगे रहने का अभिप्राय सिद्ध होता है।

भगवान् के भजन में बड़ी शक्ति है। उसमें तन्मय रहने वाला व्यक्ति भगवान् के साथ साक्षात्कार का जो अनुभव करता है, वही लोग

है। आत्मा-परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होने पर जो तन्मयता उत्पन्न होती है, वह मनुष्य को संसार के बन्धनों से छुड़ाने वाली होती है। 'ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठ भुवनं गमिष्यति' (नारायणोपनिषद्) अर्थात् 'ॐ नमो नारायण मन्त्र के उपासक बैकुण्ठ लोक में जाते हैं।' यह मन्त्र उपासना भजन का ही प्रतीक है।

भजन से शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शुद्धि होती है। जो लोग भजन करते हैं, उनके पापों का क्षय होने लगता है और अन्त में उन्हें भगवान् की कृपा प्राप्त हो ही जाती है। भक्त को चार प्रकार की मुक्ति उपलब्ध हो सकती हैं—(१) सालोक्य, (२) सामीप्य, (३) सारूप्य, और (४) सायुज्य। इनमें से सालोक्य मुक्ति का अर्थ भगवान् के लोक की प्राप्ति होना है। सामीप्य मुक्ति में भगवान की समीपता और सारूप्य में उनके जैसे रूप की प्राप्ति होती है। चौथे प्रकार की मुक्ति सर्व श्रेष्ठ है उसे प्राप्त कर लेने वाला प्राणी ही कृतकृत्य है, उसे इस संसार में फिर कभी नहीं आना होता।

परन्तु यह मुक्तियाँ भक्ति की तीव्रता के अनुसार ही प्राप्त होती हैं। जिनकी भक्ति में अल्प तन्मयता होगी, वे सामान्य पुण्य के भागी होने के कारण उसका मोक्षरूप फल भी सामान्य कोटि का ही प्राप्त कर सकते हैं। सर्वोत्कृष्ट की मुक्ति तो उन्हीं को मिल सकती है, जिनमें अनन्यभाव रूपी भक्ति की तन्मयता हो। 'भर्गः' शब्द भी उसी तन्मयता का प्रतीक है और वह उसी के कारण पापों को दग्ध करने में सहायक हो सकता है।

'देवस्य' की महानता

गायत्री मन्त्र के 'देवस्य' शब्द का अर्थ है 'देव' के लिए। वह देव कौन हो सकता है, जिसके लिए हम अपने सर्वस्व का समर्पण कर दें?

इस प्रश्न का उत्तर कुछ कठिन नहीं है। श्वेताश्वतरकार ने एक ही श्लोक में इसे स्पष्ट कर दिया है—

एको देवः सर्वं भूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्ष सर्वभूताधिवासःसाक्षीं चेता केवलो निर्गुश्च॥

अर्थात्—वह एक ही देव सभी प्राणियों में छिपा रह कर सर्व व्यापी रूप से सभी भूतों का अन्तरात्मा बना हुआ है। वही सब जीवों के कर्मफल का स्वामी, सभी भूतों के हृदयों में निवास करने वाला, साक्षी, चेतन एवं केवल निर्गुण है।

विष्णु पुराण के अनुसार वही एक भगवान पृथक्-पृथक् रूप धारण करके विश्व के उत्पत्ति आदि कार्यों को करते हैं। यथा—

सृष्टि स्थित्यन्तकरणीं ब्रह्मविष्णु शिवाभिधाम्।
स संज्ञां यांति भगवनेक एव जनार्दन॥

अर्थात्—वह एक ही परमात्मा ऐसा है जो सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय कार्य के लिए पृथक्-पृथक् नाम धारण करता है। उसी के ब्रह्मा, विष्णु, शिव यह नाम प्रसिद्ध हैं।

'तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तद्चन्द्रमाः तदेव शुक्रं तद ब्रह्मा आपः स प्रजापतिः' (यजु. ३२।१) अर्थात् 'वही देव (परमात्मा अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, वरुण एवं प्रजापति है।'

'एक एव तदा रुद्रो न द्वितीयोऽस्ति कश्चन' (शिव पुराण) अर्थात् 'उस समय (सर्गारम्भ में) अकेला रुद्र ही था, अन्य कोई भी नहीं था। अथवा 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य) 'वह एक ही है, दो नहीं' अथवा 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (एतरेय) 'वह आत्मा एक ही था।

'एक सद्विप्रा वहुधा वदन्ति' (ऋग्वेद ६।३।२२।४६) अर्थात् 'उस एक ही परमात्मा को विद्वान् पुरुष अनेक नामों से कहते हैं।' वृहन्नारदीय पुराण में भी इसी की पुष्टि मिलती है।

तमादि देवमजरं केचिदाहुः शिवाभिधाम ।
केचिद्विष्णुं सदा सत्यं ब्राह्मणं केचिदुच्यते ।।

अर्थात्—उस अनादि अजर परमात्मा को कोई शिव, कोई विष्णु और कोई ब्रह्मा कहते हैं।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र में निहित 'देवस्य' शब्द का प्रयोग उसी परमात्मा के लिए हुआ है, जो कि शास्त्रों में 'देव' कहा गया है। वही सर्व शक्तिमान परमात्मा पूर्ण आनन्द कर देने वाला है। वही मनुष्य को उसके कर्मानुसार भोग का मोक्ष प्रदान करता है। निरुक्त के अनुसार 'देवो दानाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा' अर्थात् 'जो देने वाला है वह देव है, जो दीपन है, वही द्योपन है, जो प्रकाशन के मार्ग में हो वही द्युस्थान है।'

उक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो गया कि सब प्रकार का दान वही एक परमात्मा दे सकता है, इसलिए हमें उसी देव से याचना करनी चाहिए। वही उस याचना को पूर्ण करने में समर्थ है।

आत्म-चिन्तन की क्रिया रूप 'धीमहि'

ध्यै धातु का अर्थ चिन्तन बनता है, जिसका पर्याय ध्यान होता है। परमात्मा का निश्चय करके प्रेम-भक्ति के द्वारा उसका ध्यान, चिन्तन करना ही 'धीमहि' शब्द का यथार्थ अर्थ प्रकट करता है। वस्तुतः ध्यान अष्टांग योग का सातवाँ अङ्ग है, यदि इसकी सिद्धि नहीं होती तो उसके आठवें अंग समाधिकी भी सिद्धि नहीं हो सकती। भागवतकार ने ध्यान का चित्रण करते हुए कहा है—

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ट
भाषापुणायित तनुद्विजकुन्द पंक्ति ।
ध्यायेत स्वदेह कुहरेऽवासितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पित मना न पृथग्दिदृक्षेत् ।।

अर्थात्—हृदय में निवास करने वाले भगवान् के उस ध्यानायन स्वरूप उस हास्य का अर्पित मन होकर मन सरस भक्ति से ध्यान करे, पृथक् न देखे, जिस हास्य से नीचे के ओष्ठ की लालिमा भीतर की कुन्द-कली जैसी दन्तपंक्ति की अरुण आभा प्रदान कर रही है।

ध्यान में निश्चय ही कोई शंका नहीं रहनी चाहिए, क्योंकि शंकित मन कभी भी चित्त को निश्चल नहीं रहने देता। यही कारण है कि आचार्यों ने सभी चित्त-वृत्तियों को एक ही लक्ष्य पर केन्द्रित करके अन्य सभी विकारों को दूर भगाने का प्रयत्न आवश्यक बताया है। महर्षि पतंजलि अपने योग दर्शन (३।२) में स्पष्ट रूप से कह दिया है- 'तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्' अर्थात् 'उस ध्येय रूप चित्रवृति का एक तान बना रहना ही ध्यान है।' वस्तुत: सब प्रकार के योग-मार्गों का अन्तिम साधन ही। इसके बिना ज्ञान, कर्म, उपासना, भक्ति आदि किसी में भी सफलता नहीं मिल सकती।

शारीरिक शक्तियों का शयन और मानसिक शक्तियों का जागरण

ध्यान के लिए मन का समय अत्यावश्यक है। इसकी स्थिति लाने के लिए शारीरिक शक्तियों को प्रसुप्त करके मानसिक शक्तियों को जाग्रत करना होता है। ऐसा होने पर जप साधक मन के द्वारा वास्तविक तथ्य का विचार करता हुआ उसी में तन्मय हो जाता है, तभी ध्यान की अवस्था उत्पन्न होती है।

ध्यान किसका किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिसे जो इष्ट हो उसी का ध्यान करे। कोई सूर्य को ईश्वर मानते हैं तो कोई रुद्र को, कोई विष्णु को परमात्मा समझते हैं तो कोई ब्रह्मा या इन्द्र आदि को अनेक आचार्य आत्मा परमात्मा को अभेद मानते हुए आत्मा की उपासना करते हैं। जाबाल-दर्शनोनिषद् के अनुसार—

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।
ऋतं सत्यं परंब्रह्म सर्वसंसार भेषजम् ॥
ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम् ।
सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरम् ॥

अर्थात्—अब मैं ध्यान का वह प्रकार बतलाता हूँ, जिसके द्वारा संसार के बन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है। जो परमात्मा सत्य स्वरूप, विश्व-रोग की एक-मात्र ओषधि, ऊर्ध्वरेता, विश्परूप में प्रकट, विकराल नेत्र वाले महेश्वर तथा योगियों के भी ईश्वर हैं, उन परब्रह्म का आत्मा-रूप से श्रद्धा सहित ध्यान करे।

ध्यान के विषय में एक विद्वान् का मत है कि 'जब यह प्राणी अन्तःकरण और इन्द्रियों के वश में पड़ कर विषयोन्मुख रहता है, तब उसके मन में विविध प्रकार के संकल्प-विकल्प उत्पन्न होकर इन्द्रियों को अधर्ममयी चेष्टाओं की ओर प्रेरित करता है। उसके फलस्वरूप विविध प्रकार के संशयों में पड़ कर व्याकुल हुआ मन आधोगामी चक्र में घूमता रहता है। उस चक्र का निवारण तभी हो सकता है, जब कि मन की वृत्तियों को एक ही विषय में तल्लीन कर लिया जाय। वह विषय परमात्मा ही हो सकता है, जिसके ध्यान से साधक का चित्त विकार-रहित होकर उसे मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर करता है।' श्रीमद्भगवद्गीता (६।३६) के अनुसार—

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मति।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ॥

अर्थात्—मन को वश में रखने वाले मनुष्य के लिए योग दुष्प्राप्य है, किन्तु मन को वश में रख कर प्रयत्नशील हुआ व्यक्ति साधन के द्वारा योग-प्राप्ति में समर्थ होता है।

ध्यान और उसके प्रमुख भेद

इस प्रकार मनुष्य को अपने मन को वश में करने का प्रयत्न करना चाहिए तभी ध्यान की सिद्धि हो सकती है। वैसे, ध्यान

के दो मुख्य भेद माने गये हैं—(१) स्थूल, और (२) सूक्ष्म। इनमें स्थूल ध्यान सुगम रहता है, इसलिये प्रारम्भिक अवस्था में इसका साधन करना उचित है। फिर, जब स्थूल ध्यान का अभ्यास हो जाय, तब सूक्ष्म ध्यान का अभ्यास शीघ्र ही सफल हो सकता है।

राम, कृष्ण, वामन, नृसिंह, हनुमान, शिव आदि को इष्ट मानकर इनके चित्र या प्रतिमा आदि का ध्यान करना स्थूल ध्यान है। इसमें भी भक्त को इतनी तन्मयता सिद्ध हो जाती है कि वह बाह्य ज्ञान से रहित होकर ईश्वरमय ही हो जाता है। जो लोग निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं, वे आरम्भ से ही निराकार परमात्मा का ध्यान करने लगते हैं।

एक तीसरे प्रकार का ध्यान और है—वह है ज्योतिर्ध्यान, इसे तान्त्रिक लोग करते हैं। इसमें किसी दीपक आदि की लौ पर चित्त को स्थिर करके ध्यान किया जाता है। निर्गुण ब्रह्म के भी अनेक उपासक ज्योति का ध्यान करते हैं, क्योंकि अनेक ज्ञानियों के अनुसार ब्रह्म ज्योतिस्वरूप है। यथा—'यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च, तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्‌मन तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम विद्धिः' (मुण्डकोपनिषद्) अर्थात् 'हे सोम्य ! तू उस वेधने योग्य लक्ष्य को वेध डाल जो कि अर्चिमय (प्रकाशमय) और सूक्ष्मातिसूक्ष्म है। वही सब लोकों में निवास करने वाले प्राणियों का आश्रय स्थान एवं अविनाशी ब्रह्म है।'

इस प्रकार ध्यान की अनेक विधियाँ हैं, परन्तु उन सभी के द्वारा उस एक देव का ही ध्यान होता है। गायत्री मन्त्र में समाविष्ट 'धीमहि' शब्द का भी यही अभिप्राय है।

बुद्धि का वाचक 'धियः'

गायत्री मन्त्र में 'धियो' शब्द का समावेश है, जिसका स्वरूप है—'धियः'। इसका ठीक अर्थ बुद्धि है। परन्तु इसे कर्म और वचन का प्रतीक

भी मानते हैं। इसका अभिप्राय उस साधन से भी है जो मुमुक्षु को परमात्मा की शरण में ले जाने में सहायक सिद्ध होता है।

भगवान् ही बुद्धि को कुमार्ग से हटने और सन्मार्ग की ओर प्रवृत्त होने की प्रेरणा करते हैं, तभी वह बुद्धि मन को विषयों से हटाकर परमात्मा में योजित करती है। उस समय वह स्वयं भी असत्य से हटकर सत्यमयी हो जाती है। उसे ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के विषय में सोचने का अवसर नहीं मिलता।

योग-दर्शन ने ऋतम्भरा प्रज्ञा का उल्लेख किया है। ध्यान की परिपक्वता के अन्तर जब समाधि की अवस्था आती है, तब उसमें बुद्धि केवल भगवान् में समर्पण का ज्ञान रखती है। सभी योग-साधनों का फल समाधि है, जो कि चार प्रकार की होती है, यथा—(१) सवित्तर्क, (२) निर्वितर्क, (३) सविचार, और (४) निर्विचार, इनमें से प्रथम प्रकार की समाधि में स्थूल पदार्थों में शब्द, अर्थ, ज्ञान आदि के विकल्पों से भासने वाली चित्तवृत्ति का उदय होता है।

निर्वितर्क समाधि में बाह्य विषयों की निवृत्ति

दूसरे प्रकार की निर्वितर्क समाधि मे चित्तवृत्ति शब्द, रूप एवं ज्ञान की भिन्नता से रहित हो जाती है। उस समय योगी को शब्दादि, बाह्य (स्थूल) विषयों में किसी प्रकार की विशेषता का आभास नहीं रहता है।

तीसरे प्रकार की सविचार समाधि में चित्तवृत्ति देश, काल और धर्म के विकल्प वाली रहती है। इसमें सूक्ष्म पदार्थों में नाम रूप, ज्ञान में भिन्नता भासती है।

परन्तु चौथे प्रकार की निर्विचार समाधि देश, काल और धर्म के ज्ञान से रहित हो जाती है। उस समय सभी रूपों का विस्मरण होकर केवल ध्येय पदार्थ का अनुभव ही शेष रहता है।

उस चतुर्थ प्रकार की समाधि के परिपक्व होने पर जब रज-तम रूपी मल का क्षय हो जाता है और सतोगुण का प्रादुर्भाव होने लगता है, तब चित्त में निर्मलता और अन्त:करण में प्रसन्नता भर जाती है। उस अवस्था को 'वैशारद्य' कहते हैं, जिसके कारण योगी को प्रकृति पर्यन्त सब पदार्थों का एक ही समय में साक्षात्कार हो जाता है। यह स्थिति अध्यात्म प्रसाद या प्रज्ञा प्रसाद की कहलाती है। इसमें योगी सम्पूर्ण विश्व को उसी प्रकार देखता है, जिस प्रकार कि किसी पर्वत पर खड़ा हुआ कोई मनुष्य नीचे पृथिवी पर खड़े हुए मनुष्यादि दृश्यों को देखे।

ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा अर्थ का साक्षात्कार

उसी अध्यात्म प्रसाद के अनन्तर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (यो. द. १।४८ अर्थात् 'योगी की बुद्धि ऋतम्भरा (सत्य को धारण करने वाली) हो जाती है।' इस स्थिति में चित्त में भ्रान्ति, संशय,अविद्या एवं विपर्यय आदि का किंचित् भी अंश शेष नहीं रहता। महर्षि पतंजलि अपने योग दर्शन (१।४९) में कहते हैं —

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' अर्थात् 'श्रुति' और अनुमान से प्राप्त होने वाली बुद्धि की अपेक्षा यह ऋतम्भरा बुद्धि अर्थ का साक्षात्कार विशेष रूप से कराती है। अभिप्राय यह है कि वेद, शास्त्र एवं आप्त पुरुषों के वचनादि के आधार पर प्राप्त होने वाले ज्ञान, अनुमान, युक्ति और प्रमाण के द्वारा प्राप्त होने वाला ज्ञान, इन दोनों प्रकारों के ज्ञान से सीमित जानकारी होती है। परन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा सत्य पर आधारित होने के कारण छिपे हुए रहस्यों का उद्घाटन करने में समर्थ रहती है। जो विषय साधारण बुद्धि द्वारा जानने में नहीं आता, उसका भी साक्षात्कार इसके द्वारा हो जाता है। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा की एक विशेषता योग दर्शन में ही इस प्रकार कही गई है —

'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कार प्रतिबन्धी' अर्थात् 'उससे उत्पन्न होने वाला संस्कार अन्य संस्कारों को रोक देता है।' अनेक जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार बीज रूप में कर्माशय में संचित रहकर प्राणी को संसार-चक्र में घुमाने के लिये प्रमुख कारण होते हैं, उन्हें मिटाने में ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार पूर्णतया समर्थ होता है। क्योंकि ऋतम्भरा प्रज्ञा का संस्कार उन संस्कारों को क्षीण करके योगी को मोक्ष का लाभ कराता है। गीता (६।१२) में भी ऐसी ही अवस्था की ओर संकेत मिलता है। भगवान् स्वयं निर्देश करते हैं-

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

अर्थात्—उस आसन पर बैठ कर मन को एकाग्र करे तथा चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में किये हुए अन्तःकरण की शुद्धि के लिये योग का अभ्यास करे।

जब इस प्रकार योगाभ्यास के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो जाती है, तभी ध्यान और समाधि की अवस्था के अनन्तर ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त होती है। गायत्री मन्त्र का धियः' शब्द उसी की प्राप्ति के लिए भगवान् से याचना करता है। इससे सिद्ध होता है कि 'धियः' शब्द का महत्व भी कुछ कम नहीं है।

'यः' शब्द से परमात्मा का संकेत

गायत्री मन्त्र में 'यः' (यो) का समावेश ईश्वर की ओर संकेत करता है। वस्तुतः 'यः' का अर्थ जो' है और यहाँ यह शब्द यही संकेत करता है कि वह जो परमात्मा है, हमारी बुद्धि को प्रेरणा दे। शास्त्रों में अनेक स्थानों पर 'यः' का प्रयोग ईश्वर के प्रति ही मिलता है, जैसे कि केनोपनिषद् में कहा है-

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षुंषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

अर्थात्—जिसे कोई नेत्रों से नहीं देख सकता, परन्तु जिसके द्वारा नेत्रों को देखने की शक्ति प्राप्त होती, उसे ही तू ब्रह्म जान । नेत्रों द्वारा दिखाई देने वाले जिस तत्व की उपासना की जाय, वह ब्रह्म नहीं है ।

'नः' से आत्मा-भावना की प्रेरणा

गायत्री मन्त्र में धियो के पश्चात् 'नः' शब्द आता है, जिसका अर्थ होता है—'हमारी' अर्थात् वह परमात्मा हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ कार्यों में प्रेरित करे अथवा हमारी बुद्धि मोक्ष की प्रेरणा से सम्पन्न हो जाय ।

कुछ विचारक 'नः' शब्द को आत्म-भावना का सूचक मानते हैं । उनके अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि वे परमात्मा बुद्धि को आत्म-भाव की ओर प्रेरित करें अर्थात् हमको यह सद्बुद्धि प्राप्त हो कि आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है, उसके अभेद रूपी सत्व का ग्रहण करने में बुद्धि समर्थ हो जाय । अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार 'आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात्सर्वं परित्यजेत्' अर्थात् 'आत्मा का दर्शन करने के लिए सर्वत्याग करे ।' अथवा—

अखिलमिदमनन्तमात्मतत्वं
दृढ़परिणामिनि चेतसि स्थितोऽन्तः ।
बहिरूपशमिते चराचरात्मा
स्वयमनुभूयत एवं देवदेवः ।।
—अन्नपूर्णोपनिषत्

अर्थात्—यह सब अनन्त आत्म तत्व है, यह आत्मा दृढ़ परिणाम वाले चित्त के भीतर रहता है । जब चित्त बाहर के विषयों में जाने से

रुक जाता है, तब यह देवों का भी देव चराचर आत्मा स्वयं ही अनुभव में आजाता है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र में समाविष्ट 'नः' शब्द हमारा या हमारी का वाचक होकर आत्मा-परमात्मा के ऐक्य ज्ञान का भी प्रतिपादन करता है।

'प्रचोदयात्' में मन्त्र की पूर्ण सफलता

गायत्री मन्त्र का अन्तिम शब्द 'प्रचोदयात्' के अर्थ हैं श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरण और अशुभ कर्मों से निवारण। यह शब्द मनुष्य को पुरुषार्थ और श्रेय-प्राप्ति की प्रेरणा से सम्पन्न करता है। आचार्यों ने चार प्रकार के पुरुषार्थ माने हैं—(१) धर्म, (२) अर्थ, (३) काम, और (४) मोक्ष। इनके विषय में भी कुछ कह देना आवश्यक प्रतीत होता।

चार प्रकार के पुरुषार्थों में धर्म को सर्व प्रथम लिया गया है। आचार्य जैमिनि ने अपने मीमांसा दर्शन का प्रारम्भ ही धर्म की जिज्ञासा से किया है। उनके अनुसार 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' अर्थात् 'प्रेरणा के लक्षण को धर्म कहते हैं।' अथवा 'विधान में आया हुआ अर्थ ही धर्म है।' इसका अभिप्राय यह है कि धर्म किसी व्यक्ति विशेष की इच्छा या रुचि पर निर्भर रहने वाली वस्तु नहीं, वरन् एक नैतिक नियम है, जिसका पालन प्रत्येक सामाजिक मनुष्य के लिए आवश्यक है।

कुछ कार्य प्रकृति की प्रेरणा से करने आवश्यक होते हैं, जैसे कि भोजन, पान, शयन, शौच आदि। कुछ कार्य राज्य या शासन की आज्ञा से मानने के अपेक्षित होते हैं, जैसे कि किसी की वस्तु पर अपना अधिकार न करना, पर-स्त्री से सम्पर्क न करना, किसी की हिंसा न करना आदि। तीसरे प्रकार के कार्य नैतिक स्तर के होते हैं, जिन्हें लोक कल्याण की दृष्टि से करने की प्रेरणा दी जाती है। जैसे कि दान,

परोपकार, उदारता, संयम, क्षमा आदि। और यह सभी कार्य धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। इसीलिए जैमिनी द्वारा वर्णित धर्म का लक्षण युक्तियुक्त है। महापुरुषों, शास्त्रों और लोकोपकारी ज्ञान का उपदेश करने वाले विद्वानों द्वारा दी गई प्रेरणा के अनुसार किये जाने वाले सभी कार्य धर्म हैं, उन कार्यों में ईश्वर-प्राप्ति के लिये किये जाने वाला प्रयत्न भी सम्मिलित है।

दूसरा पुरुषार्थ है—अर्थ। अर्थ का पर्याय है धन, वित्त, सम्पति, वैभव आदि। जो लोग ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात् वैराग्य ले लेते हैं, उनके विषय में तो यहाँ कुछ कहना ही निरर्थक है। परन्तु जो ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं, उनके लिए धन भी एक दैनिक आवश्यकता की वस्तु है। क्योंकि धन के बिना घर-गृहस्थी का कोई भी कार्य नहीं चल पाता।

गृहस्थ के लिए धनोपार्जन अपेक्षित

इसीलिए शास्त्रों ने और अन्य अर्थशास्त्रियों ने धन के उपार्जन को गृहस्थ का कर्त्तव्य मान कर उसे 'जीविकोपार्जन' नाम दिया है। भोजन पान, शय्या, आवास, वस्त्र-धारण, तथा अन्यान्य जीवनोपयोगी वस्तुएँ उपार्जन के बिना स्वतः उपलब्ध नहीं हो सकतीं। उनकी प्राप्ति के लिए शरीर, मन, बुद्धि, आदि के द्वारा परिश्रम-प्रयत्न करना होता है। वह मनुष्य ही क्या जो अपनी आवश्यकता की पूर्ति अपने परिश्रम से न कर सके। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार 'आमृत्योः श्रियमाकाङ्क्षेन्न कश्चिन्मर्माणि स्पृशेत्' अर्थात् 'जब तक जीवित रहे तब तक श्री (धन) की इच्छा करे और किसी को मार्मिक वेदना न दे।' इसका अभिप्रायः यह हुआ कि धनोपार्जन इस प्रकार करे, जिससे कि किसी दूसरे को चोट न पहुँच पावे। सभी कार्य-व्यवहार में सत्यता रखे और बेईमानी से धन न कमावे। तभी 'अर्थ' संज्ञक पुरुषार्थ की सिद्धि हो सकती है।

तीसरा पुरषार्थ है—काम। गृहस्थ-जीवन में काम की अपनी विशिष्ट महिमा है। शास्त्रकारों ने युवावस्था के आगमन पर विवाह को एक आवश्यक कर्त्तव्य बताया है। गृहस्थ रूपी रथ के दो पहिये स्त्री और पुरुष के रूप में माने गए हैं। उन दोनों का समान चेता होना आवश्यक है। यदि उनके चित्त समान धर्म का पालन नहीं करते तो ग्रहस्थ की वह गाड़ी निकम्मी हो जायेगी, वह अपनी गति पर चलेगी ही नहीं। याज्ञवल्क्य स्मृति में भार्या-ग्रहण का उद्देश्य बताते हुए कहा गया है—

लोकानन्त्य दिवः प्राप्तिः पुत्र पौत्र प्रपौत्रकैः।
यस्मात्तस्मान् स्त्रियः सेव्या भर्त्तव्याश्य सुरक्षिताः॥

अर्थात्—उससे पुत्र, पौत्र, प्रपौत्रादि की प्राप्ति होती है, जिसके कारण वश का विच्छेद नहीं होता और दिव्य लोक की प्राप्ति होती है। इसलिए गार्हस्थ्य में प्रवेश करके स्त्री का सेवन करे और उसकी पूर्ण सुरक्षा का भी ध्यान रखे।

गृहस्थाश्रम और शुद्धाचरण

गृहस्थ का कार्त्तव्य है कि वह शुद्ध आचरण रखे। उसमें पुरुष एक पत्नीव्रती और स्त्री एक पतिव्रता होनी चाहिए। अनाचार में कभी दृष्टि न रखें और सहवास के संयम से काम लें। शास्त्रों ने तो सहवास को केवल पुत्रोत्पत्ति के लिए ही उचित माना है। इसलिए निरर्थक वासना से बचें। क्योंकि उससे शारीरिक बल तो क्षीण होता ही है। मन में भी सदा उत्तेजना और तनाव भरा रहता है। उसके कारण आत्मा भी मल के आवरण से कुण्ठित हो जाती है।

चौथा पुरुषार्थ 'मोक्ष' है। उसके विषय में ऊपर भी बता चुके हैं कि मोक्ष के चार प्रकार हैं—सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य। उनका अधिक विवेचन यहाँ अभीष्ट नहीं है। परन्तु यह बताना

आवश्यक है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए ईश्वर से सम्बन्धित ज्ञान अपेक्षित होता है ईश्वर क्या है ? कैसा है ? आत्मा क्या है ? कैसा है ? आत्मा और परमात्मा का क्या सम्बन्ध है ? इत्यादि बातों की जिज्ञासा रहती है। वेदान्त दर्शन में महर्षि व्यास सर्व प्रथम इसी पर विचार करते हैं। यथा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' अर्थात् 'अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।' इस सूत्रका उत्तर व्यासजी स्वयं ही अगले सूत्र में देते हैं—'जन्माद्यस्य यतः' अर्थात् जिसके द्वारा इस विश्व के जन्मादि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय) होते हैं, वही ब्रह्म है।'

अब मोक्ष का उपाय बताते हुए कहते हैं—'तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (वेदान्त दर्शन १।१।७) अर्थात् उस ब्रह्म में निष्ठा रखने वाले के लिये ही मोक्ष का उपदेश है।' इस सूत्र का अभिप्राय है कि मोक्ष का उपदेश प्राप्त करने का अधिकारी वही है, जो उस ब्रह्म में निष्ठा रखता हो। क्योंकि जो व्यक्ति प्रकृति आदि में निष्ठा रखता है, उसको मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म अचेतन होता तो उसमें निष्ठावान् के प्रति मोक्षोपदेश करना ही निरर्थक होता। तैत्तिरीयक श्रुति है कि 'ब्रह्म में बुद्धि रखने वाला प्राणी ही मुक्त होता है।'

तेजोबिन्दूपनिषद् ने सर्वत्याग या सर्व समर्पण करते हुए ब्रह्म-भाव की प्राप्ति का उपाय निश्चित् किया, यथा—

लक्षणात्रय विज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय॥

अर्थात्—'तीन लक्षणाओं के विशेष ज्ञान रूप सब कुछ ब्रह्म ही है, इसलिए सब व्यापारों को त्याग कर 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी भावना करनी चाहिए।'

आत्मा-परमात्मा का ऐक्य

उक्त उद्धरण आत्मा-परमात्मा का ऐक्य सिद्ध करता हुआ स्वयं में ब्रह्म भाव मानने का आदेश देता है। इसी प्रकार अन्य अनेक शास्त्रों

ने 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि पद कह कर आत्मा को ही ब्रह्मरूप कहा है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है—

संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च
व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा वध्यते भोक्तृभावा
ज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

अर्थात्—ज्ञानी, अज्ञानी अथवा समर्थ या असमर्थ सभी प्रकार आत्मा जन्म-रहित है तथा भोगने वाले आत्मा को भोग्य प्रदान करने वाली प्रकृति उससे भिन्न है। क्योंकि परमात्मा अनन्त, विश्वरूप और अकर्त्ता है। जब प्राणी परमात्मा, आत्मा और प्रकृति को ब्रह्म रूप में प्राप्त कर लेता है, तब वह जीवन्मुक्त हो जाता है।

'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की भावना

मुमुक्षु में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना रहनी चाहिए। वह सभी जावों को आत्म स्वरूप देखे और कभी किसी से द्वेष न करे, कभी किसी को हेय न समझे। अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार—

सदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति ॥
सर्वं भूतेषु चात्मानं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥

अर्थात्—जब मनुष्य सब प्राणियों को अपनी आत्मा में और अपनी आत्मा को सब प्राणियों में देखता है, तब मनुष्य ब्रह्म ही हो जाता है।

परमात्मा सभी प्राणियों के अन्तर में निवास करने वाला है। शास्त्रों ने उसे शुद्ध स्वरूप, परब्रह्म और अविनाशी कहा है। यह सम्पर्ण विश्व उसी में आश्रित है। वह एक होते हुए भी विभिन्न रूप धारियों में प्रवेश करके उन्हीं के रूप वाला बना हुआ है। वह बाहर भी है और भीतर भी। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ वह विद्यमान न रहता हो। जैसे

वायु एक है अथवा अग्नि एक है, परन्तु वह विभिन्न रूप वाला दिखाई देता है, वैसे ही सब जीवों के अन्तर में निवास करने वाला ब्रह्म एक होकर भी अनेक रूपधारी कहा जाता है। प्रश्नोपनिषत् के अनुसार 'यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति' अर्थात् 'वह परमात्मा अजर, अमर, निर्भीक, शान्त एवं सर्वश्रेष्ठ हैं।

इस प्रकार का ज्ञान भी परमात्मा की ही प्रेरणा से प्राप्त होता है। इसीलिए गायत्री मंत्र में मोक्ष प्राप्ति के उद्देश्य से श्रेष्ठ प्रेरणा की याचना निहित है।

ज्ञान, कर्म और उपासना का केन्द्र

गायत्री मन्त्र के पृथक्-पृथक् अर्थों से यह स्पष्ट होता है कि उसमें ज्ञान, कर्म और उपासना का पूर्ण रूप से समावेश है। भगवत् सम्बन्धी ज्ञान को ब्रह्मज्ञान कहते हैं, उसकी प्राप्ति से ही मनुष्य मोक्ष की ओर अग्रसर होता है। कर्म जो भी किये जाँय, ऐसे हों जिनसे शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की उन्नति हो सके। उपासना का उद्देश्य परमात्मा की ही प्राप्ति है और उसी का नाम मोक्ष है, जिसके प्राप्त होने पर मनुष्य का जन्म-मरण रूपी संसार नष्ट हो जाता है। सभी वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति दर्शन आदि सभी इन तीनों की पुष्टि करते हैं और गायत्री मन्त्र से भी यही सिद्ध होता है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र का उद्देश्य साधक को पूर्ण रूप से ज्ञान, कर्म और उपासना की ओर प्रेरित करना है। आत्मा परमात्मा और प्रकृति से सम्पन्धित ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है, जिसे इसकी प्राप्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। केनोपनिषद् की मान्यता है कि—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनाष्टिः।

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यामाल्लोकादमृता भवन्ति ॥

अर्थात्—यदि इस देह में ब्रह्म को पहिचान लिया तब तो यथार्थ सुख है ही, किन्तु यदि इस देह के रहते हुए उसे नहीं जाना जा सका तो घोर विनाश ही समझिये। ज्ञानीजन प्राणी में ब्रह्म को जानकर इस लोक से जाकर अमर हो जाते हैं।

ज्ञान विषयक आख्यायिका

केनोपनिषद् में ही ब्रह्म-ज्ञान विषयक एक आख्यायिका का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार देवताओं के लिए ब्रह्म ने जो विजय प्राप्त की थी, उसे देवताओं ने अहभाव के वशीभूत होकर अपनी ही विजय समझा। यह जान कर ब्रह्म उनके सामने यक्ष रूप में प्रकट होगये तो भी वे उन्हें पहिचान न सके। तब देवताओं ने अग्नि को यह जानने के लिए कहा कि यह यक्ष कौन है? अग्नि तुरन्त उनके पास पहुँचा। तो ब्रह्म ने पूछा कि तुम कौन हो? तुम मे क्या शक्ति है। अग्नि ने कहा—मैं अग्नि हूँ, पृथिवी में जो कुछ भी है, उस सभी को भस्म करने में समर्थ हूँ।

यह सुनकर ब्रह्म ने अग्नि के सामने एक तिनका रखकर कहा—'अच्छा तो इसे भस्म करके दिखाओ।' तब तो अग्नि अपनी पूरी शक्ति के साथ तिनके को भस्म करने के प्रयत्न में लगा, परन्तु उसे भस्म न कर सका।

अग्नि की असफलता देखकर देवताओं ने वायु को भेजा। ब्रह्म ने उससे पूछा—'तुम्हारा क्या नाम है और क्या कर सकते हो?' वायु ने कहा—'मेरा नाम वायु या मातरिश्वा है, मैं पृथिवी में स्थित सभी कुछ को उड़ा देने की शक्ति रखता हूँ। तब ब्रह्म ने तिनके की ओर संकेत करके कहा—'इसी को उड़ाकर दिखाओ।' यह सुनकर वायु ने पूरी शक्ति लगादी, परन्तु तिनके को हिला भी न सका।

अब देवताओं ने इन्द्र से यक्ष के विषय में जानने को कहा। इन्द्र तुरन्त ही आकाश मार्ग से भगवती उमा के पास जाकर पूछने लगे—'यक्ष कौन है ?' उमा बोली–'वे ब्रह्म हैं, तुम अपने अहंकार से ब्रह्म की विजय को अपनी ही विजय समझ बैठे थे।' यह सुनकर इन्द्र ने समझ लिया कि 'यह अवश्य ही ब्रह्म हैं।' उस समय से अग्नि, वायु और इन्द्र तीनों अन्य सब देवताओं से श्रेष्ठ माने जाते हैं, क्योंकि उन्हीं ने ब्रह्म का सर्व प्रथम स्पर्श किया और उन्हीं ने सर्व प्रथय यह ज्ञान प्राप्त किया कि 'सर्व शक्तिमान ब्रह्म यही है।'

यह आख्यायिका इस भाव को प्रकट करती है कि ज्ञान के बिना कुछ भी नहीं हो सकता। जो कुछ होता है, परमात्मा की शक्ति से ही होता है और मुमुक्षु के लिए उस परमात्मा का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

शुभ कर्मों से ही आत्मोत्थान सम्भव

आत्मा सत् और चित्स्वरूप है। शरीर के सम्पर्क में आकर वह मल से आवरित होने के कारण कुण्ठित हो जाता है यदि उसके उत्थान का प्रयत्न किया जाय तो उसकी कुण्ठा दूर हो सकती है। इसी लिये शास्त्र-कारों ने आत्म-शोधनार्थ शुभ कर्मों के करने का निर्देश दिया है। योगाचार्यों ने भी शरीर और मन को शुद्ध रखने के उद्देश्य से यम-नियमों की कल्पना की तथा आलस्य छोड़कर उनका किया जाना बहुत आवश्यक बताया। यह यम, नियम दोनों अष्टांग योग के प्रथम और द्वितीय अंग हैं।

दश प्रकार के यम

यम के दश प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, दया, आर्जव, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धृति, परिमित आहार और बाह्याभ्यंतरिक शुद्धि। इनमें सत्य का अर्थ है उस तथ्य का ग्रहण जो शास्त्रों और विद्वानों के द्वारा यथार्थ माना जाता हो। इसमें मन, वचन, कर्म द्वारा सत्य का आश्रय ही उचित

समझा गया है। हिंसा का अर्थ है किसी प्राणी को मार देना या उसे सताना। इसलिए ऐसा प्रयत्न किया जाय कि किसी को अपने द्वारा पीड़ा न पहुँच सके। अस्तेय का अभिप्राय अचौर्य से है, इसमें किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा करना या परधन अथवा परस्त्री आदि का हड़पना बुरा कार्य है, उससे बचना ही अस्तेय के मन्तव्य को पूर्ण कर सकता है।

दया का अर्थ है—किसी के साथ क्रूरता का व्यवहार न करे। सब प्राणियों को अपने समान समझकर शरीर, मन और वाणी के द्वारा आत्मभाव रखना चाहिए। शत्रु, मित्र सभी में समभाव रखते हुए किसी से द्वेष न करना आर्जव माना गया है। नारी-संग का त्याग ही ब्रह्मचर्य है। गृहस्थियों के लिए केवल ऋतुकाल में संसर्ग करना उचित होता है। सब प्रकार के काम-साधनाओं और उत्तेजनात्मक कार्यों से बचना आवश्यक होता है।

क्षमा-भाव का तात्पर्य है—अपराधी प्रति भी क्रोध न करना और प्रतिशोध की भावना को चित्त में न आने देना। धृति का अर्थ है अविचल वृत्ति, जिसमें यह विश्वास हो कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है और आत्मा-परमात्मा में कोई भेद नहीं है। परिमित आहार में सात्विक अन्न का भोजन करना, आधे पेट अन्न और चौथाई पेट जल का सेवन तथा चौथाई भाग खाली रखना निश्चित है।

बाह्य और आन्तरिक शौच में शरीर-शोधन को प्रमुखता दी गई है। प्रातःकाल शौच, दन्त-मार्जन, स्नान आदि के द्वारा बाह्य शौच होता है तथा मन में किसी बुरे विचार को न आने देना और उसे एकाग्र बनाकर परात्मा में योजित करने का प्रयत्न करना आन्तरिक शौच है। निरालम्बोनिषत् ने ज्ञान रूपी शौच को ही यथार्थ माना है। उसके अनुसार—

ज्ञान शौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः।
स मूढः कांचनं त्यक्त्वा लोष्ठं गृह्णाति सुव्रत ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति ज्ञानरूप पवित्रता को त्यागकर बाह्य शौच में ही लगा रहता है, वह मूर्ख मानो स्वर्ण को छोड़कर मिट्टी के ढेले का ग्रहण करता है।

दश प्रकार के नियम

अब दश प्रकार के नियमों पर प्रकाश डालते हैं—तप, संतोष, आस्तिकता, दान, लज्जा, मति, जप, व्रत, ईश्वर-पूजन और सिद्धान्त श्रवण। तपस्या वह है जिसमें वेद-विदित कृच्छ् और चान्द्रायण आदि व्रत किये जाँय तथा आसन आदि क्रियाओं के साथ गर्मी में अग्नि का ताप और सर्दी में जल की ठण्ड सहन की जाय। तपश्चर्यारत अनेक साधक एक पाँव से खड़े रहकर या केवल एक बार अल्प आहार सेवन करते हुए शारीरिक कष्टों को झेलते हैं, वह सब तप ही है।

ईश्वर की इच्छा से जो कुछ भी प्राप्त हो जाय उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है। किसी भी वस्तु के संग्रह की इच्छा न करे और धन, सन्तान आदि के प्रति अधिक ममता का न होने देना भी सन्तोष में ही सम्मिलित है। अथवा जीवनोपार्जन के लिए जो कुछ भी पास में हो, उससे अधिक की इच्छा न करना भी सन्तोष ही है।

वेद शास्त्र, स्मृति आदि सद्ग्रन्थों में वर्णित धर्म में आस्था रखना आस्तिकता है। अथवा गुरुजन और विद्वान् पुरुष जिस अनुभव की हुई बात का निर्देश करें, उसमें पूर्ण विश्वास रहना आस्तिकता ही है। अथवा परमात्मा सर्व शक्तिमान् है उसकी इच्छा के बिना कभी कुछ भी नहीं होता, इस प्रकार का विश्वास भी आस्तिकता में सम्मिलित है।

संकट में पड़े हुए जीवों की रक्षा के लिए आवश्यक वित्तीय सहायता देना दान है। अथवा शिक्षा देने वाले आचार्य, तपस्वी, निर्धन भिक्षुक आदि को भरण-पोषणार्थ अन्न देना या वस्त्र बर्तन आदि प्रदान करना भी दान के अन्तर्गत आता है। परन्तु दान उसी के लिए देना चाहिए,

जो कि सत्पात्र हो, कुपात्र को दान कभी न दे। सुपात्र में सदाचारी, शुद्ध हृदय एवं परमात्मा में विश्वास रखने वाले व्यक्ति आते हैं।

वैदिक और लौकिक मार्गों में मान्य हुए निन्दित कर्मों के करने में जो स्वाभाविक संकोच हो वही लज्जा है। बुरे कार्यों को मनुष्य बिना विचारे चाहे जब कर बैठता है, परन्तु जैसे ही उसे अपने कार्य का दूषित होना ज्ञात है, वैसे ही वह लज्जित हो जाता है।

गुरुजनों के अनुमति देने पर भी वेद-विरुद्ध मार्ग का आवलम्बन कर वेदोक्त उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखना ही मति है। अथवा श्रेष्ठ कार्यों को करना शुद्ध विचार रखना भी मति के अन्तर्गत आता है।

वेदोक्त मन्त्रों के बारम्बार रहने को जप कहते हैं। धर्मशास्त्र, पुराण, तन्त्रशास्त्र आदि में वर्णित मन्त्र का जाप करना भी जप ही है। परन्तु जप के दो भेद है—(१) वाचिक जप, और (२) मानसिक जप। वाचिक जप के भी भेद हैं—(१) उच्च, (२) उपांशु। इसी प्रकार मानसिक जप के भी दो भेद माने गए हैं—(१) मनन और (२) ध्यान उच्च जप की अपेक्षा उपांशु जप और उपांशु जप की अपेक्षा मानसिक जप श्रेष्ठ है।

व्रत से मानसिक शुद्धि होती है और स्वास्थ्य भी ठीक रहता है। व्रत अनेक प्रकार के हैं, जैसे कि कृच्छ्र चान्द्रायण आदि सामान्य उपवास भी व्रत के अन्तर्गत आता है। किसी प्रकार की प्रतिज्ञा करके उसका पालन भी व्रत ही कहा जाता है।

असत्य भाषण आदि दोषों से परे रहने से अदूषित वाणी, एवं रोगादि विकारों से मुक्त रहकर हिंसा आदि क्रूरता से रहित कर्म ही ईश्वर-पूजन रूप हैं। अर्थात् सगुण या निर्गुण ब्रह्म की उपासना करना भी ईश्वर-पूजन में सम्मिलित है।

यह आत्मा सत्य, ज्ञानरूप, सर्वोत्कृष्ट, नित्य, अनन्त और अन्तर्यामी है। इस सिद्धान्त को बार-बार सुनकर उसके अनुकूल विश्वास करना ही सिद्धान्त-श्रवण है।

इस प्रकार शुभ कर्म करने से आत्मोत्थान होता है और गायत्री मन्त्र में शुभ कर्म करने की प्रेरणा याचित है। इससे समझना चाहिए कि यह मन्त्र शुभ कर्मों की भावना से ओत-प्रोत है।

उपासना का महत्व

योगाभ्यास, जप, तप आदि का जितना महत्व समझा जाता है, उतना महत्व उपासना का भी हो सकता है। उपासना भी सगुण निर्गुण के भेद से दो प्रकार की मानी जाती है। निर्गुण उपासना में निराकर ब्रह्म को सर्वाधार मानते हुए उनके मानसिक रूप से पूजनादि कर्म किये जाते हैं। सगुण उपासना में विष्णु शिव, राम, गणेश नृसिंह, सूर्य, गरुड़, हनुमान, दुर्गा, राधा, सीता, लक्ष्मी, सरस्वती, काली, त्रिपुरभैरवी, ज्वाला, भैरव आदि देवी-देवताओं का पूजन होता है।

देवोपासना और उसके विधि-विधान पर पुराणों ने तो प्रकाश डाला ही है। परन्तु उपनिषदों में भी इसका स्थान बहुतपूर्ण माना गया है। अनेकों उपनिषद् तो उन-उन देवी-देवताओं के नाम पर हैं, जिन-जिन के चरित्रों का उनमें वर्णन है। उपासना से इच्छित फल की अभिलाषा भी पूरी हो जाती है और मोहरूप श्रेय की प्राप्ति भी हो सकती है।

उपासना से जीवमात्र का परम उपकार

साधना की पूर्ण परिपक्वता जिनके लिए कठिन प्रतीतहो रही हो, वे भी उपासना के द्वारा बहुत लाभ उठा सकते है। पहिले काम्य प्रयोजनों की उपलब्धि और पश्चात् अध्यात्म-मार्ग पर चलते हुए ब्रह्म प्राप्ति के परम कल्याणकारी मार्ग पर अभिमुख हो जाना कुछ कठिन नहीं होता इस प्रकार उपासना से मानव जाति का भारी उपकार सिद्ध होना स्वाभाविक ही है।

उपासना परब्रह्म परमात्मा की की जाय, तो उसते परिणाम बहुत हितकर सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत देवी-देवता आदि की उपासना भी

अपने-अपने इष्ट रूप में की जाने से लाभप्रद सिद्ध होती है। यहाँ देवो-पासना के फलों के विषय में कुछ प्रकाश डाल दिया जाय तो अनुचित न होगा।

'मध्याहने सूर्याभिमुखः पठेत्, सद्योत्पन्न पंच महापातकात् प्रमुच्यते। य एतां महाभागः प्रातः पठति स भाग्यवान् जायते, इत्यादि (सूर्योपनिषद्) अर्थात् 'मध्याह्न काल में सूर्य के अभिमुख पढ़े तो हाल के उत्पन्न हुए पाँचों प्रकार के महापाप दूर होते हैं। जो महाभाग व्यक्ति प्रातःकाल पढते हैं वे भाग्यवान हो जाते हैं।

'ॐ नमो नारायणेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठ भुवनं गमिष्यति। तदिद पुण्डरीकं विज्ञानघन तस्मात्तड़िदाभमात्रम्' (नारायणोपनिषद्) अर्थात् 'ॐ नमो नारायण उस मन्त्र की उपासना करने वाल बैकुण्ठधाम को गमन करता है। यह पुण्डरीक (हृदय कमल) का विज्ञान रूप है, इसमें विद्युत की आभा प्रकट होती है।'

'यो दूर्वांकुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति, यो मोदक सहस्रेण यजति स वांछित फलमवाप्नोति, यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते' (गणपत्युपनिषद्) अर्थात् 'जो दूर्वा के अंकुरों द्वारा गणपति का यजन करते हैं, वे कुबेर के समान धनवान हो जाते हैं। जो सहस्र मोदकों से यजन करता है, वह इच्छित फल प्राप्त कर लेता है। जो घृत और समिधा से यज्ञ करता है उसे सभी कुछ प्राप्त हो जाता है।

'अथैवं स्तुतिभिराराधयामि, तथा यूयं पंचपदं जपन्तः श्रीकृष्ण ध्यायन्त संसृतिं तरिष्यथेति' (गोपाल पूर्वतापिन्युपनिषद्) अर्थात् 'इस प्रकार स्तुतियों द्वारा आराधना करने पर ससार से तर जाओगे। जप का कर्त्ता भगवान के परमपद को प्राप्त हो जाता है।' रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में भी कहा गया हैं—

तद्भक्ता ये लब्धकामांश्य भुक्त्वा
तथा पदं परमं यान्ति ते च।

इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च
ये ते पठन्त्यमला यान्ति मौक्षम् ।।

अर्थात्—उनके भक्त इच्छित भोगों को प्राप्त करते हैं और उनका उपभोग करके अन्त में परम पद प्राप्त कर लेते हैं। यह ऋचाएं सम्पूर्ण अभीष्टों और अर्थों की देन वाली हैं। जो इनका पाठ करते हैं वे भक्त जन पवित्र अन्तःकरण वाले होकर मोक्ष को प्राप्त हो जाते हैं।

सूर्योपासना से पुत्र प्राप्ति

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार एक बार कौषीतकि ऋषि ने अपने पुत्र को बताया कि 'मैंने सूर्य की उपासना की, उसी से तू सूर्य की किरणों का सब ओर से आवर्तन कर उन सब के रूप के ओंकार का चिन्तनकर, इससे निश्चय हो तेरे अनेक पुत्र होंगे।'

उपासना से पाप-दारिद्रय् का नाश

नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् में भयभीत देवताओं के प्रजापति की शरण में जाने की एक आख्यायिका वर्णन मिलता है—'देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च विभीयुक्ते प्रजापतिमुपाधाव स्तेभ्य एतं मन्त्रराजं मारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वे ते मृत्युमजयन् इत्यादि अर्थात् 'जब मृत्यु, पाप और संसार से सब देवता अत्यन्त भयभीत हुए और भागकर प्रजापति ब्रह्माजी की शरण में पहुँचे तब ब्रह्माजी ने उन्हें भगवान् नृसिंह का मन्त्रराज अद्वनुष्टुभ् बतलाया और सब देवताओं ने इस मन्त्र की सिद्धि द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त करली तथा सब पापों से मुक्त होकर संसार से पार हो गये।'

नीलरुद्रोपनिषद् में भगवान् नीलकण्ठ की उपासना का वर्णन करते हुए कहा गया है—'मनुष्यो! इन भगवान् नीलकण्ठ के दर्शन करो। यही भगवान् रुद्र हैं, जो जल में और औषधियों में निहित होकर रोग रूप पापों को नष्ट करते हैं। यह प्राणियो के लिए प्राणरूप है। तुम्हारे

अमंगल को नष्ट करने के लिये और अप्राप्त कामनाओं को पूर्ण करने के लिए तुम्हारे समीप पधारें ।'

त्रिपुरोपनिषद् में त्रिपुरादेवी की उपासना का वर्णन मिलता है— 'सर्वांग सुन्दरी त्रिपुरादेवी के देह रूप गुहा में स्थित काम, रूप, कला का ध्यान करके मनुष्य कामरूप हो जाता है । उनकी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं ।'

परन्तु, इसी उपनिषद् में यह भी स्पष्ट कह दिया है कि 'इसके फल स्वरूप जो कामोपभोग रूपी संस्कारों से फिर जन्म धारण करने होते हैं, इसलिए मोक्ष के इच्छुकों को यह कामोपासना नहीं करनी चाहिए ।'

सरस्वतीरहस्योपनिषद् के अनुसार सरस्वती की उपासना से कवित्व, भोग, निर्भयता अथवा मोक्ष, जैसी कामना हो, उसी के अनुरूप प्राप्ति होती है । जो उनकी नियमपूर्वक पूजा, स्तुति युक्त उपासना करता है, उसे भगवती की कृपा शीघ्र ही प्राप्त हो जाती है । वह उपासक दूसरों से सुने या पढ़े बिना ही ग्रन्थों के गूढ़ रहस्यों को स्वतः समझने लगता है ।

गरुड़ोपनिषद् के अनुसार—'जो व्यक्ति गारुड़ी विद्या का अमावस के दिन अध्ययन करता है उसे जीवन पर्यन्त सर्प नहीं काटते । इसके द्वारा सर्प के विष को मन से ही दूर किया जा सकता है । 'एवं ध्याये-त्रिसन्ध्यासु गरुडं नागभूषणम्, विषं नाशयते शीघ्रं तुलराशिमिवानिलः' अर्थात् 'तीनों सन्ध्याओं के समय नागभूषण गरुड़ का ध्यान करे, इनके ध्यान से विष ऐसे समाप्त हो जाता है, जैसे अग्नि से रुई का ढेर भस्म हो जाता है ।'

गायत्री द्वारा विशिष्ट उपासना की सिद्धि

इस प्रकार उपनिषदों पुराणों आदि में उपासना के द्वारा वांछित फल की प्राप्ति होना सिद्ध होता है । परन्तु गायत्री मन्त्र में जिस उपासना का

समावेश है, वह सभी प्रकार कामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है । चाहे वह कामना भौतिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित हो, अथवा मोक्ष-प्राप्ति से सम्बन्धित । अथर्ववेद (१६।७०।१) के अनुसार—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ता पावमानी द्विजानाम् । आयु: प्राणं प्रजां पशुं कीर्ति द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् मह्यं दत्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।

अर्थात्—मेरे द्वारा स्तुत की गई, वरदायिनी वेदमाता (गायत्री) द्विजों के लिए प्रेरणा देती और पवित्र करती हुई, मुझे आयु, प्राण, सन्तान, पशु धन, कीर्ति, द्रव्य और ब्रह्मतेज प्राप्त कराती (और अन्त में) ब्रह्मलोक में ले जाती है ।

इसी प्रकार गायत्री मन्त्र में ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का ही समावेश है । इसलिए अनेक आचार्य इसे सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-साधन मानते हैं । जगद्गुरु शंकराचार्य ने इसे जगत् की माता कहा है । महाभारत के अनुसार जहाँ गायत्री तन्त्र का जप होता है, वहाँ बालकों की मृत्यु नहीं होती, वहाँ अग्नि किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुँचती और वहाँ गाय अधिक दूध देने वाली होती हैं ।

गायत्री ब्रह्मरूपिणी है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है । भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—'बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम्' (गीता १०।३५) अर्थात् 'गायन योग्य श्रुतियों में बृहत्साम और गायत्री छन्द मैं ही हूँ ।' ऐसी विशेषता किसी भी शास्त्र, किसी भी स्मृति अथवा वेदों के भी किसी अन्य मन्त्र में नहीं है । इससे यही सिद्ध होता है कि गायत्री मन्त्र ही सर्वोत्कृष्ट मन्त्र है और एक मात्र इसी मन्त्र का आश्रय ग्रहण करके मनुष्य अपने इहलोक और परलोक, दोनों में परम आनन्द और शान्ति को प्राप्त कर सकता है ।

———

स्तुति, प्रार्थना, आराधना का संगम
गायत्री मन्त्र

मोण प्राप्ति मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। जब वह धर्म, अर्थ और काम की उपलब्धि और उपभोग करके पूर्ण रूप से तृप्त होजाता है, तब उसे मोक्ष के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। उसके जीवन का अन्तिम कार्य मोक्ष या ईश्वर की प्राप्ति ही है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' (वेदान्त दर्शन) अर्थात् अब हमें ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।'

'अथतो' शब्द का अर्थ यही है कि पहले जो कुछ कर चुके वह अब अभीष्ट नहीं है। क्योंकि सांसारिक विषय असार हैं, वे सभी नष्ट होने वाले हैं। यह शरीर भी एक दिन मृत्यु को प्राप्त होगा ही, तो क्यों न समय रहते उनका त्याग कर दिया ? ऐसी बुद्धि तभी उत्पन्न होती है, जब कि सत्कर्म किये जांय। बुरे कर्मों के करते हुए उसकी सम्भावना नहीं हो सकती।

गायत्री मन्त्र में सत्कर्मों के करने की प्रेरणा निहित है। इसीलिए उसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति भी हो सकती है। क्योंकि उसमें ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना; और आराधना तीनों का ही समावेश है। जिसके द्वारा परमात्मा के गुणों का वर्णन होता हो वह स्तुति, जिसके द्वारा कुछ याचना की जाती हो वह प्रार्थना और जिसके द्वारा ईश्वर में तन्मयता प्राप्त होती हो, वह आराधना कहलाती है। गायत्री मन्त्र में इन तीनों तथ्यों की विद्यमानता होने से आध्यात्मिक दृष्टि से उसमें जितनी पूर्णता है, उतनी किसी भी मन्त्र में नहीं मिलती।

परमात्मा के गुणों का वर्णन

भूः भुः स्वः सवितु, वरेण्य, देवस्य और भर्गः यह सभी शब्द ऐसे हैं जिनके द्वारा परमात्मा के गुणों का वर्णन हो रहा है। हम अन्यत्र उक्त

शब्दों के अर्थों पर प्रकाश डाल चुके हैं। यदि उन पर ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उक्त शब्द परमात्मा की अद्भुत और सर्वोपरि सामर्थ्य का वर्णन करते हुए मनुष्य को प्रेरणा देते हैं कि वह परमात्मा कोही आश्रय योग्य समझ कर उसकी शरण को प्राप्त हो। क्योंकि उससे भिन्न कोई भी आश्रय के योग्य नहीं है। श्रीमद्भगवद्गीता (६।१८) में भगवान् स्वयं कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रणयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥

अर्थात्—मैं ही प्राप्ति के योग्य, भरण पोषण करने वाला, सभी का स्वामी, शुभाशुभ का साक्षी, सभी का निवास स्थान, सभी के लिए शरण लेने योग्य, सभी का हितचिन्तक, उत्पत्ति-प्रलय और सभी का आश्रय स्थान, प्रलयकाल में सभी को अपने में धारण करने वाला और अविनाशी कारण हूँ।

शास्त्रों में ईश्वर को देवताओं का भी उत्पन्न करने वाला कह कर यह सिद्ध किया है कि वह सभी का उत्पत्ति कर्ता होने से परमपिता कहलाता है। प्राणिमात्र में उसी का बल समाविष्ट है। यदि वह अपने बल को शरीर से खींच लेता है, तो वह मनुष्य मर जाता है। वह बल प्राण ही है, संसार में जितने भी प्राणी हैं, वे ईश्वर प्रदत्त प्राण से ही जीवित रहते हैं, यजुर्वेद के अनुसार—

यऽआत्मदा बलदा यस्य विश्वऽउपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

अर्थात्—जो ईश्वर शरीर में प्राण का संचार करता है, जो बल का देने वाला और सभी का शासक है, संसार जिसकी उपासना करता है तथा सभी देवता जिसके अधीन हैं, जिसकी छाया के स्पर्श से भी प्राणी अविनाशी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है अथवा जिसका न जानना ही मृत्यु का कारण अर्थात् आवागमन का कारण है, उस अद्वितीय परमात्म देव के लिए हम हवियों का विधान करते हैं।

गुण-कीर्तन से श्रेय की प्राप्ति

इस प्रकार भगवान् के गुण-कीर्तन में जिस श्रेय की प्राप्ति निहित है, उसका प्रयोजन गायत्री मन्त्र से स्वतः सिद्ध हो जाता है। वेद,पुराण एवं अन्यान्य सभी शास्त्र भगवान् के गुणों का ही कीर्तन करते हैं और उसके प्रभाव से ही वे मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं।

'धियो यो नः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हमारी बुद्धियों को सत्कर्मों में प्रेरित करें।' यह पद प्रार्थना-परक है। इसमें याचना भरी है कि हमारी बुद्धि को अशुभ कर्मों से हटा दीजिए, हमें यह विश्वास दिला दीजिए कि बुरे कर्मों से हमारा शारीरिक और मानसिक उत्थान नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा विश्वास ही हमें बुरे कर्मों से दूर रहने में सहायक सिद्ध हो सकेगा। उसी के उत्पन्न होने पर हमारे मन में त्याग की भावना उत्पन्न होगी। क्योंकि—

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥

— गीता ३।७

अर्थात्—हे अर्जुन! जो मनुष्य मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त रहता हुआ, कर्मेन्द्रियों से कर्मयोग का आचरण करता है, वह श्रेष्ठ है।

इस प्रकार बुरे कर्मों को त्यागकर सत्कर्मों को करना और उन सत्कर्मों को भी ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना, ऐसी बुद्धि की याचना करना प्रार्थना में ही आता है।

बीच में 'धीमहि' शब्द रह गया। पहले बता चुके हैं कि इसका अर्थ ध्यान अथवा चिन्तन ही बनता है। गुण-कीर्तन करते-करते परमात्मा का ध्यान दृढ़ होने लगता है और उसी ध्यानावस्था में अराधक 'धियो-यो नः प्रचोदयात्' की प्रार्थना करता है। यही इस मन्त्र का त्रिगुणात्मक समन्वय है।

'धीमहि ध्यान और आराधना का प्रतीक

'धीमहि से ध्यान का अर्थ प्रतिपादन यह स्पष्ट करता है कि इसमें आराधना का भी समावेश है। ध्यान के बिना किसी प्रकार की आराधना सफलीभूत नहीं हो सकती। 'आशीतलान्तः करणों नित्यमात्म-परो भव' अर्थात् 'जब तक अन्तःकरण में शीतलता का उदय न हो जाय, तब तक आत्मा के परायण रहो।' वह आत्म-परायणता ध्यान का ही एक रूप है, क्योंकि उसी अवस्था में चित्त में तन्मयता उत्पन्न हो सकती है।

केवल शब्दार्थ के द्वारा ही नहीं, उसके प्रत्येक अक्षर का गहराई से मनन करें तो इस सत्यता का अनुमान सहज ही लग जायगा कि गायत्री मन्त्र में भगवान् की सामर्थ्य का वर्णन जिस रूप में किया गयाहै, वह एक ऐसा तथ्य है जिसमें अतिशयोक्ति का लेशमात्र भी नहीं है। गायत्री के द्वारा हम उस सार्वभौम प्रभु-सत्ता को स्वीकार करते हुए उसकी विशेषताओं से स्वयं को समन्वित करने की इच्छा ही आत्मा की अभिन्नता का ज्ञान प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होती है।

क्योंकि गायत्री मन्त्र के जप से हमें जो सर्व श्रेष्ठ उपलब्धि होने लगती है, वह है पापों की निवृत्ति। 'गायत्र्यास्तु परन्नास्ति शोधन पाप कर्मणाम्' (सम्वर्त स्मृति) अर्थात् 'पाप कर्मों का शोधन करने मे गायत्री से बढ़कर कुछ ऐसे भी नहीं है।' ऐसा ही शंख स्मृति का भी वचन है कि गायत्र्याः परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्' अर्थात् 'लोक-परलोक में कहीं भी गायत्री से बढ़कर पवित्र करने में समर्थ अन्य कोई मन्त्र नहीं है।

आचार्यों के अनुसार स्तुति में बड़ी शक्ति है। जब उसकी तन्म-यता में साधक निमग्न हो जाता है, तब स्तुति के तरंग-प्रभाव से पर-मात्मा की सर्वनात्मक शक्ति का जागरण होने लगता है। वह शक्ति'धियो यो न प्रचोदयात्' की शक्ति के साथ एकाकार होकर साधक को अद्भुत सामर्थ्य से परिपूर्ण कर देती है।

वही सामर्थ्य जब अपना प्रभाव व्यक्त करने लगती है, तब उससे प्राणी की भौतिक उपलब्धियाँ उसको पूर्ण तृप्त बनाकर उसकी सांसारिक परतन्त्रता को समाप्त करके स्वतन्त्रता के मार्ग को खोल देती हैं। उस समय साधक आत्म-साक्षात्कार की भूमिका में अवस्थित होने लगता है। शरीर के रहते हुए भी उस समय उसकी जीवन्मुक्त अवस्था हो जाती है।

उस अवस्था में उसे सर्वत्र अथवा उत्कर्ष ही दिखाई देने लगता है। त्रैलोक्य की सभी सिद्धियाँ धीरे-धीरे उसमें केन्द्रित होने के लिए अग्रसर होती हैं। उस समय उसकी सभी चेष्टाएँ भगवान की महिमा का गान करने में लग जाती हैं। उसका बाह्य ज्ञान प्रसुप्त होता जाता और आन्तरिक ज्ञान जागने लगता है। यही अवस्था आत्मज्ञान के साक्षात्कार की दिशा में प्रारम्भिक चरण सिद्ध होती है।

बूँद बूँद से सरोवर की परिपूर्णता

यह तो प्रत्यक्ष ही देखा जाता है किसी वर्तन में एक-एक बूँद जल डालिए तो वह धीरे-धीरे भर जाता है। वर्षा की नन्हीं-नन्हीं बूँदें भी सूखी हुई पोखर और सरोवर तक को भर देती हैं। इसी प्रकार स्तुति के प्रत्येक अक्षर से निकलती हुई थोड़ी-थोड़ी तरंगें भी जब एक हो जाती हैं, तब उनकी शक्ति का सामना करना बड़ा ही कठिन हो जाता है।

इसीलिए योगाचार्यों ने तपस्या के विधान को मनुष्य के लिए बहुत हितकर स्वीकार किया है। तपस्या में जो परिश्रम होता है, वह साधक की शारीरिक, मानसिक और आत्मिक तीनों प्रकार की उन्नतिमें सहायक रहता है। परिश्रम स्वास्थ्य के लिए लाभप्रद होने के कारण मनुष्य को सबल बनाये रखता है। उसका प्रभाव मन पर भी अनुकूल पड़ता है और उससे साधक शान्त एवं सुखमय जीवन व्यतीत करने में

सफल हो जाता है यह एक ऐसा साधन है, जिससे आत्मा की उन्नति में व्यवधान उपस्थित नहीं हो सकता।

गायत्री मन्त्र के उक्त शब्दों का उच्चारण जिस परिश्रम की अभिव्यक्ति करता है, वह किसी भी प्रकार को तपस्या से कम नहीं है। वेद में 'श्रमेण तपसा श्रेष्ठ' कहकर जिस श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है, वह गायत्री मन्त्र में सहज रूप से संभव है।

ईश्वर की शक्तियां देवता कहलाती हैं। अथवा यों कहिये कि संसार में जिन-जिन देवताओं को पूजा जाता है, वे सब ईश्वर की शक्ति ही हैं। स्तुतियों में तरंगों का समावेश रहता है, वे तरंगें उन देवताओं रूपी शक्तियों को आकर्षित कर अपने अनुकूल बना सकती हैं। सूक्ष्म देवताओं के लिए सूक्ष्म साधन ही अपेक्षित हैं, और उसके लिए मन्त्र ही सर्वोपरि साधन हैं।

गायत्री की सूक्ष्म तरंगों से प्रकृति में हलचल

गायत्री मन्त्र उन सभी मन्त्रों में सर्वोपरि है, इसलिए इसका तरंगों में अत्यन्त सूक्ष्मता है। इसकी तरगें जब सूक्ष्म प्रकृति में हलचल उत्पन्न करती हैं तब ईथर तत्व में व्याप्त तरंगें इन तरंगों के साथ मिल कर एक शक्ति पुंज का रूप धारण कर लेती हैं। शक्तियों को साधक एक चुम्बक के समान आकर्षित करता है जिससे वे शक्तियाँ उसकेशरीर में उसी प्रकार भरती चली जाती हैं, जिस प्रकार कि किसी बैटरी में विद्युत-ऊर्जा।

इस प्रकार गायत्री मंत्र परमाणुमयी प्रकृति के आकर्षण-विकर्षण से संसार के पदार्थों में परिवर्तन होता रहता है, जिनके कारण उत्पत्ति, स्थिति और लय के परिणाम उपस्थित होते रहते हैं। इस स्वाभाविक प्रक्रिया को परिवर्तित करके इसके द्वारा उन परिणामों को अपने अनुकूल बनाया जा सकता है।

आधुनिक जगत् के प्रचलित आविष्कार विद्युत, तार, रेडियो, टेलीविजन आदि सब उसी प्रक्रिया के परिवर्तित रूप हैं। यह विज्ञान की यन्त्रीय क्रिया के परिणाम हैं, परन्तु प्राचीन विज्ञान की मन्त्र क्रिया उससे करोड़ों गुणा अधिक शक्तिशाली है। उसके द्वारा आन्तरिक विद्युत शक्ति को इतना अधिक विकसित किया जा सकता है कि उसके प्रभाव से प्रकृति के सूक्ष्म परमाणु अपनी इच्छा के अनुरूप ढाले जा सकते हैं और उनका इस प्रकार ढाला जाना ही सिद्धि है।

मन्त्र क्रिया के द्वारा आन्तरिक चेतना-ग्रथियों को जाग्रत किया जाता है। यह चेतना-ग्रथियां सूक्ष्म जगत् में विचरणशील रहती हैं। मंत्र की तरगें उन्हें अपने अनुकूल बनाने में पूर्ण रूप से समर्थ हैं। उस समय उनकी अनुकूलता वैसी ही होती है, जैसे कि कोई सेवक अपने स्वामी की सेवा में सदा तत्पर रहता है वे शक्तियां अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार साधक की इच्छाओं को पर्ण करने में कभी पीछे नहीं रहतीं। परन्तु वे उतना ही कार्य पूरा कर सकती हैं, जितनी कि उनमें क्षमता होगी।

अदृश्य लोक को चेतना ग्रन्थियों का जागरण

मन्त्र की शक्ति के द्वारा जब अदृश्य लोक की चेतना ग्रन्थियों को पकड़ कर जगाया जाता है, तब वे प्राणवान् होकर क्रियाशील हो जाती हैं। उनकी सर्वप्रथम क्रिया साधक पर ही होती है। जैसे कि किसी सोये हुए पुरुष को कोई अनजान व्यक्ति जगा डाले तो वह जगाने वाले के प्रतिरोष प्रकट करने लगता है। वैसे ही जगायी जाने पर वे चेतना ग्रन्थियां साधक पर आक्रमण कर बैठती हैं और यदि साधक उस समय सावधान नहीं रहता तो उसे हानि हो सकती है।

शास्त्रों में बताया गया है कि वे ग्रन्थियां साधक को विभिन्न रूप दिखाती हैं, जिनमें ऐसे भयंकर रूप भी हो सकते हैं, जिन्हें देखकर वह

भयभीत हो जाय। उस समय भयभीत होने का अर्थ है साधना की समाप्ति। अनेक साधकों के विषय में कहा जाता है कि वे इसी स्थिति में आकर ऐसे भयभीत हो गये कि उससे उन्हें शारीरिक और मानसिक क्षति उठानी पड़ी। ऐसे अनेक साधक अर्द्ध विक्षिप्त या पूर्ण उन्माद से ग्रस्त भी पाये गये।

जो लोग उन ग्रन्थियों के आक्रमण से भयभीत नहीं होते, वे उन्हें अपने वश में कर लेते हैं। उस स्थिति में वही वशीभूत हुई ग्रन्थियां जब सिद्धियों का रूप धारण कर लेती हैं, तब उनसे डरने का कोई कारण शेष नहीं रह सकता।

प्राचीन काल में मन्त्र-शक्ति के द्वारा अदृश्य लोक की उन चेतना ग्रन्थियों को जाग्रत करके जो-जो अद्भुत कार्य सम्पन्न किये जाते थे, उन्हें करने में आधुनिक विज्ञान आज तक समर्थ नहीं हो सका। वह मंत्र-शक्ति आज भी कुछ विद्वानों तक सीमित है, परन्तु उनमें भी उतनी क्षमता नहीं रही, जिसका वर्णन शास्त्रों के स्थान-स्थान पर देखा जाता है।

उस अक्षमता का कारण अज्ञान कम और आलस्य अधिक है। मन्त्र शक्ति का विज्ञान आज ही जीवित है और उसे जानने, समझने वाले भी विद्यमान हैं, परन्तु आलस्य का कारण परिश्रम नहीं करना चाहते इसलिए उन्हें अपने काम्य फल की प्राप्ति में सफलता नहीं मिलती।

यदि प्राचीन विज्ञान पर मनन के साथ परिश्रम भी किया जाय तो उसके फलस्वरूप न जानें कितने अद्भुत रहस्य प्रकट हो सकते हैं। सफल की परीक्षणों से हमें अतुल शक्ति-सामर्थ्य की प्राप्ति हो सकती है और आधुनिक विज्ञान जिस कार्य को आज तक पूरा नहीं कर सका, उसे हम मन्त्र शक्ति के प्रभाव से सहज में ही पूर्ण कर सकते हैं।

अदृश्य लोक की चेतना-ग्रन्थियों का सिद्ध स्वरूप

उन ग्रन्थियों का सिद्ध स्वरूप उन सिद्धियों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, जो कि योगाभ्यास अथवा तांत्रिक क्रियाओं के द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं। मन्त्र के अन्तर में विद्यमान दिव्य तरंगें ही संचित होकर सिद्धियों के रूप में प्रकट होने लगती हैं। उन सिद्धियों के समान सामर्थ्य नहीं होती, वरन् जैसी सिद्धि होती है, उसका फल भी उसी के अनुरूप न्यून या अधिक होता है।

वस्तुतः साधना का फल ही सिद्धि के रूप में व्याप्त होता है। उसकी उपलब्धि होने पर साधक अपने को कृतकृत्य समझने लगता है। परन्तु, जो साधक अपने अभ्यास से उच्च भूमिका पर पहुँच जाता है, वह उन सिद्धियों को हेय दृष्टि से देखता है। क्योंकि 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (योग दर्शन ३।३७) अर्थात् 'वे सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में विघ्न रूप हैं और वे केवल व्युत्थान अवस्था (जाग्रत) में ही सिद्धि रूप रहती हैं।

उक्त सिद्धियों में हर्ष, गौरव आदि का समावेश होने के कारण साधक के मन और शरीर में शिथिलता आने लगती है। कभी-कभी तो यह भी देखा गया है कि सिद्धियों का प्रदर्शन करने में स्वयं को अहंकार और दूसरों को ईर्ष्या होने लगती है तथा यह अहंकार एवं ईर्ष्या ही राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि विकारों की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इसलिए भी सिद्धियों को कोई भी मुमुक्षु या विद्वान् अपने लिये कल्याणकारी नहीं समझता।

इसके विपरीत, सामान्य मनुष्य और प्रारम्भिक साधक इसकी बड़ी महिमा मानते हैं। उनकी दृष्टि में जिसके पास किसी प्रकार की सिद्धि नहीं है, वे योगी नहीं माने जाने चाहिए। परन्तु, अनेक विद्वान् इसके विरोध में कहते हैं कि सिद्धियाँ आत्मा को और मन, बुद्धि को भी कुण्ठित कर देती हैं, इसलिए उनका त्याग ही श्रेयस्कर है।

विभिन्न सिद्धियों के विभिन्न चमत्कार

महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन के तीसरे (विभूति) पाद में बहुत सी सिद्धियों का उल्लेख किया है। जैसे भूत, भविष्यत् का ज्ञान, सब जीवों की बोली आदि का ज्ञान, पूर्व जन्म का ज्ञान, दूसरे के मन की वृत्ति का ज्ञान आदि की सिद्धियाँ सामान्य कोटि की मानी जाने पर भी साधारण मनुष्यों के लिए तो चमत्कार स्वरूप ही होती हैं।

उक्त सिद्धियों से आगे बढ़कर योग-दर्शनकार ने अदृश्य होने की सिद्धि का वर्णन किया है—'कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्' अर्थात् शरीर के रूप में संयम करने से रूप ग्राहकता की शक्ति रुक जाती है और इससे दूसरे के नेत्रों के प्रकाश का संयोग न रहने के कारण साधक अन्तर्धान हो जाता है।

रूप दर्शन दो शक्तियों के योग से होता है—एक तो नेत्र की ग्रहण शक्ति और दूसरी रूप ग्राह्य शक्ति। यदि इन दोनों में से कोई एक शक्ति भी रुक जाय तो देखने का कार्य बन्द हो जाता है। साधक संयम के द्वारा अपने शरीर की ग्राह्य शक्ति को रोकने में सफल हो जाता है, इसलिए अन्य व्यक्ति अपने में नेत्र ग्रहण शक्ति के होते हुए भी साधक के शरीर को देखने में असमर्थ रहता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और उनकी ग्राह्य शक्तियों को रोकने से श्रोत, त्वचा, जिव्हा, नासिका आदि इन्द्रियों के ज्ञान का शब्द आदि के साथ सम्बन्ध समाप्त होने पर उनका ज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार साधक शब्द में संयम करले तो उसके शब्द को कोई सुन नहीं सकता, यदि स्पर्श में संयम करे तो उसे कोई छू नहीं सकता। इस प्रकार अन्यान्य सिद्धियों के विषय में समझिए।

अष्टांग योग और गायत्री योग के फल में समानता

गायत्री-योग के योगी को भी वे सभी शक्तियां सहज ही प्राप्त हो सकती हैं, जो कि अष्टांग-योग साधक को प्राप्त होती हैं । क्योंकि योगाभ्यास में जिस प्रकार की दिनचर्या रखनी होती है, उसे यम-नियमों का पालन कर चित्त-शोधन आदि में सफलता मिल जाती है, उसी प्रकार गायत्री-योग के योगी को शुद्ध आचरण और यम नियम पालन द्वारा चित्त शोधन और सब प्रकार के सयम सफलता प्राप्त हो जाती है ।

स्थूल इन्द्रियों के द्वारा तीन प्रकार की वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता—(१) अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु, जैसे परमाणु, महत्व, आत्मा, प्रकृति आदि, (२) आवरण में छिपी हुई वस्तु, जैसे पृथिवी में गढ़ा हुआ धन, समुद्र में रत्न, खान में स्वर्ण आदि और (३) विप्रकृष्ट वस्तु, जैसे पर्वत आदि अन्य देश में स्थित वस्तु । इनका ज्ञान मनुष्य को सहज रूप से नहीं हो पाता । इसके लिए महर्षि पतंजलि ने ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाश में संयम करना आवश्यक बताया है ।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति को 'विशोका, अर्थात् शोक-रहित वृत्ति भी कहा है । इससे चित्त की स्थिरता दृढ़ होती है । इसमें हृदय-कमल में चित्त को स्थिर किया जाता है । प्रथम रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न शोक, मोह आदि का समाधान कर अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करे, जिससे कि ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त हो जाय । 'धियो यो नः प्रचोदयात्' की साधना निश्चय ही रज तम युक्त अज्ञान को दूर कर ज्ञान का प्रकाश फैलाने में समर्थ है । इससे सतोगुणी निर्मल वृत्ति का उत्पन्न सोना सहज रूप से सम्भव है ।

हृदयस्थ पद्माकर सूक्ष्म ग्रन्थि का वर्णन

हृदयस्थान में कमल के आधार की एक सूक्ष्म ग्रन्थि है, उनमें आठ पंखुड़ियां हैं । योगाचार्यों के अनुसार इसका मुख नीचे की ओर

होती है, जिसे योगीजन प्राणायाम के अभ्यास से ऊपर की ओर करने में सफल हो जाते हैं। यदि गायत्री मन्त्र का मानसिक रूप से जप करते हुए प्राणायाम किया जाय तो यह अधोमुखी कमल सरलता से ऊर्ध्व मुखी और विकसित हो जाता है।

उक्त कमल के मध्य में ओंकार स्थित है, जिसका प्रथम अक्षर 'अ' सूर्यरूप, द्वितीय अक्षर 'उ' चन्द्ररूप और तृतीय अक्षर 'म' अग्नि के मण्डल स्वरूप है। उसके ऊपर जो अर्द्धमात्रा है, वह ब्रह्मानन्द रूप है। उस कमल की कणिकाओं में ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना नाड़ी है। उसी के अन्तर्गत ब्रह्मनाडी है, जो कि मूर्धा तक चली गई है। मूर्धा से बाहर भी इस ब्रह्मनाड़ी का सम्बन्ध सूर्यलोक आदि अन्यान्न लोकों से जुड़ा हुआ है।

इसी ब्रह्मनाड़ी में चित्त का निवास है। गायत्री-जप युक्त प्राणायाम के साथ जब हृदय-कमल का विकास और साक्षात्कार किया जाता है, तो उसमें विद्यमान सूर्य, चन्द्र, अग्नि या मणि आदि के रूप में ज्योतियाँ दिखाई देने लगती हैं। इस साक्षात्कार को ही ज्योतिष्मती कहते हैं। इसके उदय होने पर रजोगुण और तमोगुण जन्म शोकादि विकारों का शमन हो जाता है, इसीलिए इसे विशोका वृत्ति कहा गया है। यह वृत्ति गायत्री-मंत्र के आदि में लगाये जाने वाले ओंकार मात्र का चमत्कार है।

'भुवज्ञानं सूर्ये संयमात्' (योगदर्शन ३।२६) अर्थात् सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है।' इसका अभिप्राय व्यक्त करने से पूर्व भुवनों के विषय में बता देना भी आवश्यक है। पृथिवी के नीचे अवीचि नरक से लेकर सुमेरु की पीठ पर्यन्त भूःलोक, मेरु की पीठ से ध्रुवग्रह तक नक्षत्रों और तारागणों से युक्त अन्तरिक्ष लोक ही भुवर्लोक तथा इससे ऊपर स्वर्ग या महेन्द्रलोक है। इससे ऊपर प्रजापति का महर्लोक, उससे ऊपर जनःलोक, फिर तपः लोक और सबसे ऊपर सत्यलोक है।

पृथिवी के नीचे चौदह लोक और हैं । सबके नीचे अवीचि नरक उसके ऊपर मिट्टी और कंकड़ों से युक्त महाकाल, उससे ऊपर जल से परिपूर्ण अम्बरीष, उससे ऊपर अग्नि से परिपूर्ण रौरव नरक और फिर वायु के प्रचण्ड वेगों से व्याप्त महारौख है । तत्पश्चात् आकाश के समान खाली महासूत्र और फिर घोर अन्धकार से भरा हुआ अन्ध तामिस्र है । इनमें अपने-अपने अशुभ कर्मों के फलरूप में यातना भोगने के लिए प्राणियों को जन्म लेना होता है ।

सात पातालों का वर्णन

इसके नीचे सात पातालों का वर्णन मिलता है-महातल, रसातल अतल, सुतल, तलातल और पाताल । आठवीं पृथिवी है, जिसके मध्य भाग में पर्वतराज सुमेरु विद्यमान है । पृथिवी सात द्वीप वाली है तथा सुमेरु की चार चोटियाँ चांदी, वैदूर्य, स्फटिक और स्वर्ण से दीप्तिमान होकर चारों दिशाओं में व्याप्त हैं । सुमेरु के ऊपर दक्षिण भाग में बहुत विशाल आकार का एक जम्बू वृक्ष है । इसीलिए इस द्वीप को जम्बू द्वीप कहते हैं ।

सूर्य के चारों ओर सूर्य भ्रमण करते हैं । जहाँ उनका प्रकाश दिखाई देता है, वहाँ दिन और जहाँ प्रकाश नहीं दिखाई देता वहाँ रात्रि होती । सुमेरु के उत्तर में नील-श्वेत श्रृंगवान् पर्वत है,जो कि दो-दो हजार वर्ग योजन विस्तार का है । इनसे घिरे हुये तीन महादेश हैं— रमणक, हिरण्य और उत्तर कुरु नौ-नौ हजार योजन के हैं । सुमेरु के दक्षिण में दो-दो हजार योजन विस्तृत निषध, हेमकूट और हिमशैल हैं । उनके भीतर हरिवर्ष, किंपुरुष वर्ष और भारतवर्ष नामक तीन महादेश हैं ।

सुमेरु के पूर्व की सीमा भद्राश्व और माल्यवान से तथा पश्चिम सीमा केतुमाल और गन्धमादन पर्वत से घिरी है तथा मध्य में इलावृत

नामक महादेश स्थित है। इस प्रकार जम्बूदीप का विस्तार सौ हजार वर्ग योजन माना गया है। इसी प्रकार शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मल, गोमेध और पुष्कर द्वीप सप्त समुद्रों से घिरे हुए हैं। यह पचास करोड़ योजन का भू-मण्डल ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत एक खद्योत के समान स्थित है।

संयम से साक्षात्कार

उक्त समस्त भुवनों और उनमें विद्यमान ऐश्वर्यों का ज्ञान सूर्यमें संयम द्वारा साक्षात्कार करने से होता है। 'तत् सवितुः वरेण्यम्' की सिद्धि से यह साक्षात्कार सहज सम्भाव्य है। इससे सिद्ध होता है कि गायत्री मन्त्र सभी लोकों के ऐश्वर्यों को प्राप्त कराने में समर्थ है।

महर्षि पतंजलि ने 'चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्' (यो० द० ३।२७) अर्थात् 'चन्द्रमा में संयम करने से सब नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान' होना कहकर व्यक्त किया है कि जो व्यक्ति चन्द्रमा में संयम कर लेता है वह समस्त नक्षत्रों के वैभव को प्राप्त करने में समर्थ है। ज्योतिष की गणना के अनुसार चन्द्रमा शीघ्र गति वाला होने से अपने चन्द्रमास में बारहों राशियों पर चक्कर लगाता हुआ एक वर्ष में पृथिवी के बारह चक्कर पूरे कर लेता है। प्रत्येक नक्षत्र की राशि के साथ जो आकर्षण-विकर्षण शक्ति होती है, वह चन्द्रमा की ही है। यदि चन्द्रमा में संयम कर लिया जाय तो तारामण्डल का संयम स्वतः हो जाना अनिवार्य है।

ऊपर बता चुके हैं कि हृदय-कमल में स्थित ओंकार का द्वितीय अक्षर 'उकार' चन्द्रमा स्वरूप है। गायत्री मन्त्र के आदि में जिन ओंकार का उचारण किया जाता है, वह उस हृदयस्थ चन्द्रमा को प्रभावित और संयमित करने में समर्थ है। इस प्रकार गायत्री मन्त्र द्वारा सब लोकों और सभी नक्षत्रों आदि वैभव का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके साधक अभूतपूर्व ऐश्वर्यों से सम्पन्न हो जाता है।

योग दर्शन में छः प्रकार की अन्य सिद्धियों का वर्णन किया है— 'ततः प्रतिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ताजायन्ते' (३।३६) अर्थात् 'उस स्वार्थ तीति में सयम करने से प्रातिभ, श्रावण, वेदना, आदर्श, आस्वाद और वार्ता का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इनमें श्रावणज्ञान से दिव्य शब्द सुनाई देने लगता है, वेदना ज्ञान से दिव्य स्पर्श का अनुभव होता है, आदर्श ज्ञान से दिव्य रूप का दर्शन होता है, आस्वाद ज्ञान से दिव्य रस का अनुभव होता है तथा वार्ता का ज्ञान दिव्य गन्ध का अनुभव कराने में सहायक है। परन्तु इन सिद्धियों के प्राप्त होने पर साधक को साधन-रत रहना चाहिए जिससे कि पूर्ण ज्ञान की प्राप्ति हो सके।

प्रसिद्ध अष्ट सिद्धियाँ

अणिमादि सिद्धियाँ लोक प्रसिद्ध हैं, वे आठ प्रकार की होती हैं— (१) अणिमा, (२) महिमा, (३) गरिमा, (४) लघिमा, (५) प्राप्ति, (६) अकाम्य, (७) ईशत्व, और (८) वाशित्व। इनमें से प्रथम सिद्धि के द्वारा शरीर को अणु के समान सूक्ष्म बनाया जा सकता है। दूसरे प्रकार की सिद्धि शरीर को बड़े आकार का बनाने में सहायक होते हैं। तीसरे प्रकार की सिद्धि की सहायता से शरीर को बहुत बजनदार किया जा सकता है। चौथे प्रकार की सिद्धि शरीर को अत्यन्त हल्का बना सकती है। पांचवें प्रकार की सिद्धि से दूरस्थ पदार्थों को भी पास में लाया जा सकता या उनका स्पर्श किया जा सकता है। छठवें प्रकार की सिद्धि सब प्रकार की कामनाओं को अभिलषित रूप में पूरी करदी है। सातवें प्रकार की सिद्धि से शरीर और मन के आन्तरिक संस्थानों और चक्रों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त होता तथा संसार भर के समस्त पदार्थों का इच्छित प्रयोग करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है और आठवीं सिद्धि सभी परिस्थितियों और वस्तुओं को वश में कराने में सहायक बनती है।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने जन्म सिद्धि, शब्द ज्ञान सिद्धि, शास्त्र ज्ञानसिद्धि, आधि भौतिक सिद्धि, आध्यात्मिक सिद्धि, आधिदैविक सिद्धि

विज्ञान सिद्धि, विद्या सिद्धि के नाम से आठ सिद्धियां मानी हैं । उनके अनुसार प्रथम सिद्धि से जन्म से ही पूर्व संचित संस्कारों व वैभवों की प्राप्ति होती है । द्वितीय सिद्धि से श्रवण मात्र से सम्पूर्ण अनुमान सही लगाये जा सकते हैं । तीसरी से शास्त्राभ्यास द्वारा असाधारण बुद्धि उत्पन्न होती है । चौथी से आधिभौतिक ताप सहने की, पांचवी से आध्यात्मिक ताप सहने की और छठवीं से आधिदैविक ताप सहने की शक्ति प्राप्त हो जाती है । सातवीं सिद्धि से अन्तःकरण से तत्वज्ञान का स्फुरण होता है । आठवीं से साधक पूर्ण ज्ञान को प्राप्त हो जाता है, उसमें अज्ञान का लेश भी नहीं रहता ।

अन्य अष्ट सिद्धियाँ और उनके कार्य

आचार्यों ने आठ प्रकार की अन्य सिद्धियाँ भी मानी हैं, प्रसंगवश उनका वर्णन करना भी उचित होगा—

(१) आत्मसिद्धि–इसकी उपलब्धि होने पर साधक को इन्द्रिय संयम, मनोनिग्रह स्थितिप्रज्ञता, समाधि अवस्था, आत्म-साक्षात्कार या परमात्म-दर्शन, तत्वज्ञान भूतजय, पंचक्लेश-निवृत्ति आदि की प्राप्ति होती है । संसार की भली या बुरी, कैसी भी परिस्थिति उसे प्रभावित नहीं करती । यह सिद्धि साधक को संसार के बन्धनों से छुड़ाकर मोक्ष प्राप्त कराने में समर्थ है ।

(२) विविधा सिद्धि—इसके द्वारा पंचतत्वों पर नियन्त्रण किया जा सकता है । यह सिद्धि साधक के लिए अभीष्ट वस्तुएँ और परिस्थितियाँ उत्पन्न करने तथा दूसरों के मन में अपनी भावना एवं मान्यता स्थापित करने में सहायक होती हैं ।

(३) ज्ञान सिद्धि–यह साधक को तीक्ष्ण बुद्धि, तीव्र स्मरण शक्ति भूत-भविष्य की घटनाओं का ज्ञान, दूरस्थ और समीपस्थ सभी परि-

स्थितियों का समान रूप से साक्षात्कार, पूर्वजन्मों के वृत्तान्त का ज्ञान, सब जीवों के मनोभावों का ज्ञान, शास्त्रों के सार का ज्ञान तथा अन्तःकरण में वैराग्य और निस्पृह प्रेम की प्राप्ति कराने वाली है।

(४) तप सिद्धि—इससे साधक को कठिन तपस्या कराने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। इस सिद्धि की प्राप्ति भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कष्टों का अनुभव नहीं होने देती तथा साधक जल, थल और आकाश में समान रूप से विचरण कर सकता है।

(५) क्षेत्र सिद्धि—इसके द्वारा साधक सूक्ष्म शरीर से देश-देशान्तरों और लोक-लोकान्तरों में भ्रमण करने, अल्प स्थान में बहुत विस्तृत वस्तुओं को रखने, अपने तेज से बाहर योजन तक प्रकाश फैलाने और उस दूरी तक के प्रदेश के जीवों के अभावों और संकटों को दूर करने एवं शरीरस्थ चक्रादि तथा आत्मा से साक्षात्कार करने में समर्थ होता है।

(६) देव सिद्धि—इसके प्रभाव से योगी को यक्ष गन्धर्व, राक्षस ब्रह्म राक्षस, प्रेत, पिशाच, बेताल तथा देवता आदि का स्वामित्व और अनुग्रह प्राप्त होता है। षट्चक्रों और कुण्डलिनी शक्ति के जागरण में भी अत्यन्त सहायक होती है। इससे मन्त्र की सिद्धि सरलता से हो जाती है। सिद्ध योगी पुरुष इसी सिद्धि के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में सम्बन्ध सन्निध्य को प्राप्त होते हैं।

(७) शरीर सिद्धि—इसकी उपलब्धि होने पर योगी अपनी दृष्टि या स्पर्श मात्र से दूसरों को निरोग और कष्ट रहित कर सकता है। उसमें अपार बल, अद्भुत मनोबल और दिव्य अनुभूति का समावेश हो जाता है, जिससे चिन्तन में थकान का न होना, निर्बाध रूप से भाषण दे सकना, स्पर्श मात्र से खाद्य पदार्थों को अत्यन्त स्वादिष्ट बना देना, थोड़े से अन्न से बहुतों को तृप्त कर देना, शरीर का कायाकल्प कर उसे सुन्दर, दीर्घायुष्य और अमृतत्व युक्त बना लेना तथा दुष्ट व्यक्तियों को शाप मात्र से नष्ट कर डालना और सज्जनों, धार्मिक व्यक्तियों तथा

कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुषों को आशीर्वाद मात्र से सुखी बना देना आदि सम्भव होता है।

(८) विक्रिया सिद्धि—इसके द्वारा योगी अपने शरीर को अन्य शरीर (रूप) में परिवर्तित करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। अपने ही नहीं, दूसरों के शरीरों को भी परिवर्तित करने में समर्थ हो जाता है। वह अपने शरीर को अत्यन्त भारी, अत्यन्त हल्का, अत्यन्त सूक्ष्म या अत्यन्त विशाल बना सकता है। सब जीवों का वशीकरण करना, अन्तर्धान होजाना और सब प्रकार की इच्छा पूर्ति के साधनों को इच्छा मात्र से उपलब्ध कर लेना आदि भी इसी सिद्धि के चमत्कार हैं।

सिद्धियों की उपलब्धि में श्रद्धा-विश्वास अपेक्षित

इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने सिद्धियों के विभिन्न नाम, रूप, सामर्थ्य आदि का प्रतिपादन किया है। यह सिद्धियाँ किसी जप, तप, पूजन, उपासना, आराधन की प्रारम्भिक अवस्था में ही प्राप्त नहीं हो सकतीं, वरन् इसकी प्राप्ति के लिए संयम, परिश्रम, निष्ठा, विश्वास आदि की आवश्यकता होती है। जो लोग परिश्रमी होते हैं, ईश्वर और मन्त्र के प्रति श्रद्धा विश्वास रखते हैं, उन्हीं के लिए इनकी उपलब्धि सम्भव है।

उक्त सभी प्रकार की सिद्धियाँ अकेले गायत्री मन्त्र की सिद्धि से प्राप्त की जा सकती हैं। 'भूः भुवः स्वः' में त्रिभुवन का ऐश्वर्य भरा पड़ा है। जो साधक इस मंत्र में तन्मयता प्राप्त करने में सफल होजाता है, किसी भी भौतिक या दिव्य सिद्धि का अभाव नहीं रह सकता। इसीलिए गायत्री मंजरी के अनुसार भगवान् शंकर ने 'सिद्धीनां सा मता माता नातः किंचिद् बृहत्तरम्' कह कर गायत्री को सर्व सिद्धियों की माता बताते हुए उससे बढ़कर अन्य किसी मन्त्र को नहीं माना है।

भक्ति के तीन प्रमुख अंग

स्तुति, प्रार्थना और आराधना यह तीनों भक्ति के प्रमुख अंग माने गये हैं । स्तुति में मन्त्र के योग से उत्पन्न होने वाली तन्मयता साधक की हृदय तन्त्री के तारों में दिव्य झंकार भर कर उसे ईश्वर तक मिलाने का कार्य करती है। उसमें मन्त्र शक्ति का महान् योग रहता है और अनेक योगी अथवा हरिभक्त पुरुष उसी के बल से आत्म-साक्षात्कार या मोक्ष की प्राप्ति से हो जाते हैं ।

स्तुति में विद्यमान मन्त्र की शक्ति से जो उपलब्धि होती है, वह अकस्मात् ही प्राप्त नहीं हो जाती, वरन् साधना के योग से ही उसमें एक ऐसी वैज्ञानिक प्रक्रिया होने लगती है, जो अन्य किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि इस विषय में ठीक प्रकार से अध्ययन करें तो यह समझना कुछ कठिन नहीं होगा कि मन्त्रों का अपना एक स्वतन्त्र विज्ञान है, जो कि एक ठोस आधार पर खड़ा है ।

संसार दो प्रकार का माना जाता है—(१) जड़ और (२) चेतना यह विश्व स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में विभाजित है । जो कुछ भी हम अपने नेत्रों से देखते हैं, वह सब स्थूल ही है तथा जिसका भार, परिणाम आदि नहीं होता और न जिसे किसी स्थान आदि की ही अपेक्षा होती है, वह सभी कुछ कहलाता है।

स्थूल और सूक्ष्म के यक्षणों का वर्णन करते हुए अनेक आचार्यों का कथन है कि जो वस्तु स्थान चाहे, जिसका कुछ वजन हो अथवा जो वस्तु नेत्रों से दिखाई देती हो वह स्थूल कही जाती है । जिसके लिए स्थान की किंचित् भी आवश्यकता न हो, जिसमें कुछ भार न हो या जो वस्तु नेत्रों से दिखाई न दे, वह सूक्ष्म समझनी चाहिए ।

सूक्ष्म की असीमित शक्ति

शरीर स्थूल है और मन सूक्ष्म है। मन में सहस्रों प्रकार के विभिन्नता युक्त विचार भरे रहते हैं, परन्तु उन विचारों के लिए स्थान

की अपेक्षा नहीं रहती । स्थूल पदार्थों में शक्ति सीमित होती है, जबकि सूक्ष्म में असीमित । स्थूल की गति का कारण सूक्ष्म ही होता है । जैसे कि शरीर में सूक्ष्म प्राण होते है, वे ही शरीर को गतिशील बनाये रहते हैं । जब प्राण शरीर से निकल जाते हैं, तब वह सर्वथा अयोग्य, मिट्टी का घरोंदा मात्र रह जाता है । यदि उसे निश्चित समय के भीतर जला न दिया जाय तो वह सड़ने लगता है और उसमें दुर्गन्ध आने लगती ।

स्थूल से सूक्ष्म बहुत शक्तिशाली होता है । यदि कोई पदार्थ स्थूल से सूक्ष्म बनता जाता है तो वह जितना ही सूक्ष्म बनेगा उतना ही अधिक शक्तिशाली होता जायगा । आप देखते हैं अग्नि को उसमें कितनी शक्ति है, परन्तु उसका भी सूक्ष्म विद्युत है वो उससे बहुत अधिक शक्ति से सम्पन्न होती है ।

शरीरों में भी अनेक प्रकार की सूक्ष्म शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं । परन्तु वे मनुष्य के अज्ञात अथवा निष्क्रियता के कारण सोती रहती है । यदि उन शक्तियों को जगाया जा सके तो हम क्या नहीं कर सकते ? संसार मे ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो उन शक्तियों को जगा कर पूर्ण नहीं किया जा सकता ।

और वह शक्ति-जागरण ही 'सिद्धि' कहलाता है । मन्त्र में शब्द रूपी अंग सूक्ष्म ही होते हैं, पंचतत्वों में आपका तत्व को सर्वाधिक शक्तिमय माना गया है और शब्द उस आकाश तत्व से ही सम्बन्धित है । वह आकाश का ही प्रतीक हैं । जब उसका समुचित प्रभाव सूक्ष्म शरीर में स्थित शक्ति केन्द्रों पर पड़ता है, तब वहाँ केन्द्रीभूत एवं सुषुप्त हुई शक्ति जाग्रत् होने लगती है ।

शब्द की महान् शक्ति

शब्द की महान् शक्ति का अनुमान इसी से लग जाता है कि आचार्यों ने उसे 'ब्रह्म' तक की संज्ञा दे डाली है । शब्द का उच्चारण

होते ही कम्पन उत्पन्न होकर वातावरण को प्रभावित करते हुए गन्तव्य स्थान पर पहुँचने की तैयारी करते हैं। यदि साधक में मन्त्रबल की कमी नहीं है तो, शब्दों को लक्ष्य पर पहुँचने में अधिक विलम्ब नहीं लगता।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि यदि साधक में मन्त्रबल की कमी है तो उसका ज्ञान कैसे हो और उसे किस प्रकार दूर किया जाय? यदि आपके द्वारा सन्धानित शब्द अपने लक्ष्य को वेधने मे सफल नहीं होरहा है अथवा यह कहिये कि उसके द्वारा उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो रही है,तो वह कमी ही है। परन्तु हम उसे मन्त्र की कमी नहीं कह सकते, वह साधक की ही कमी हो सकती है।

उस कमी को दूर करने के लिये सबसे पहले आवश्यक है मन्त्र के प्रति निष्ठा और आत्म-विश्वास। इन दोनों के बिना न कभी कोई कार्य पूरा हुआ है, न कभी हो सकता है। यदि निष्ठा है तो उसे क्रियान्वित करने की इच्छा जाग्रत होगी और यदि आत्म-विश्वास—अर्थात् 'मैं अमुक कार्य को अवश्य पूरा कर लूँगा' ऐसी भावना है तो कार्य करने के लिए जाग्रत् हुई इच्छा साधक को उसके क्रियान्वयन में लगा देगी।

एक सिद्धान्त है—जिस कार्य को प्रारम्भ किया जाय, उसे पूरा करके छोड़ने की लगन होनी चाहिए। यदि वैसी लगन नहीं हो तो उस कार्य का आरम्भ ही न करें। मन्त्र का आरम्भ करके उसकी पूर्णता प्राप्त किये बिना छोड़ देने से जीवन में सफलता और निराशा ही हाथ लगती है।

मंत्रसिद्धि के लिए जप की अपेक्षा

मन्त्र की सिद्धि उसके जप से होती है। किसी भी मन्त्र को जपने में दत्त चित्त होना योगाभ्यास से किसी प्रकार कम नहीं है। क्योंकि योग के अभ्यास से जिस दिव्य शक्ति का आविर्भाव होता है, वैसा ही आविर्भाव मन्त्र-जप के योग से होता है। इस प्रकार योग और मन्त्र-जप के फल में कोई असमानता नहीं समझनी चाहिए और न यही मानना चाहिए कि मन्त्र-जप में किसी प्रकार की न्यून सामर्थ्य है।

मन्त्र की शक्ति से बड़े-बड़े दैत्य, दानव, राक्षस, ब्रह्म राक्षस, भूत प्रेत आदि वशीभूत हो जाते हैं। मन्त्र की शक्ति से स्तम्भित हुए घोर विष वाले सर्प भी किंकर्त्तव्य विमूढ़ होकर मन्त्रज्ञ की आज्ञा का पालन करते हैं। ऐसी अनेक घटनाएँ हुई हैं जिनमें जिस किसी भयंकर सर्प ने जिस किसी मनुष्य को काट लिया उसे मन्त्रज्ञ के आदेशानुसार उसी मनुष्य के शरीर में प्रविष्ट हुए विष को स्वयं खींचना पड़ा।

बड़े-बड़े देवता भी मन्त्र-बल पर आविर्भूत होते हैं। यज्ञादि की सफलता उन मन्त्रों पर ही निर्भर करती है जिसका उचित उपयोग हुआ हो। मन्त्र की शक्ति से पर्वत तक फोड़े जा सकते हैं और आकाशगामी जीवों को नीचे गिराया जा सकता है। किसी भी प्राणी को उसका कार्य करने से रोक देना या उससे अपनी इच्छा के अनुसार कार्य करा लेना तो सिद्ध मन्त्र की सामान्य शक्ति का प्रताप ही समझना चाहिए।

मन्त्र-विद्या का विकास करने वाले आचार्यों ने तभी विभिन्न शक्तियों से सम्पन्न मन्त्रों का पुनर्गठन किया, जब उन्हें शब्दों से होने वाले प्रभाव की जानकारी हुई। उन्होंने अनुभव कर लिया कि हम जो कुछ भी बोलते हैं, उसका प्रभाव ब्रह्माण्ड पर पड़े बिना नहीं रहता और वह प्रभाव ही साधक को इच्छित परिणाम की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है।

मन्त्र और उसका यथार्थ स्वरूप

मन्त्र क्या है ? इस विषय में भी जान लेने से उससे सम्बन्धित प्रभाव को सरलता से जाना जा सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि मानव मुख से जब कभीं जो अर्थ पूर्ण शब्द निकले, वे ही मन्त्र बन गये। परन्तु, ऐसा नहीं है, किसी भी मन्त्र को कोई असम्बद्ध प्रलाप नहीं समझना चाहिए। क्योंकि सभी मन्त्रों के गठन से उनके उद्देश्य, उनकी शक्ति और परिणामों की उपलब्धि का समावेश रहता है। उनके

रचयिताओं ने अपने अनुभवों और दूर दृष्टि से अनुभूत परिणामों का सार उनमें भर दिया है। इस कारण वे मन्त्र अद्भुत शक्तियों से सम्पन्न हो गए और जिन्होंने उनके द्वारा स्तुति आदि का प्रारम्भ किया अथवा जप आदि की विधि से प्रयोग किया, वे सफल हो गए। उनकी सिद्धि सामान्य प्राणियों के लिए कल्याणकारिणी बन गई।

परन्तु किसी भी मन्त्र की सफलता के लिए उसमें प्रयुक्त शब्दों का उच्चारण शुद्ध होना आवश्यक है। अशुद्ध उच्चारण से सिद्धि सम्भव नहीं है। कभी-कभी तो अशुद्ध उच्चारण से उसका विपरीत अर्थ निकलता है और उस विपरीत अर्थ के बार-बार जप करने का परिणाम भी विपरीत होना स्वाभाविक है।

मन्त्र के अशुद्ध उच्चारण के फलस्वरूप लोगों को बड़ी हानि उठानी पड़ती है। हमने एक प्रकाण्ड पंडितजी को देखा जो विद्वान् होते हुए भी आदत के वशीभूत होकर मन्त्र—जप में उसे अशुद्ध बोलते थे। एक दिन वे चण्डी—पाठ पूर्ण करते करते ही पागल हो गए। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरण हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि उनमें से अनेकों को मन्त्र के अशुद्ध उच्चारण के प्रभाव से धन, सन्तान, यश, मान मर्यादा आदि की क्षति उठानी पड़ी है।

प्राचीन विज्ञान ही नहीं, आधुनिक विज्ञान भी मन्त्र शक्ति के चमत्कार से प्रभाव है। एक पाश्चात्य विचारक आर्टी में ब्लैकबर्न ने इस तथ्य की पुष्टि म कहा है कि संस्कृत भाषा के अक्षरों में भाव और अर्थ दोनों की ही विद्यमानता रहती है। उन अक्षरों के युक्ति पूर्ण गठन से अनेक बार जादू के समान प्रभाव दिखाई देता है।'

मंत्र शक्ति की उपलब्धि के लिए अपेक्षित साधन

परन्तु, मन्त्र की शक्ति का प्राप्त होना कुछ साधनों पर निर्भर करता है। कोई समझे कि मन्त्र के उच्चारण मात्र से वह अपना कार्य करने लगे तो यह असम्भव ही होगा। उनकी सिद्धि के लिए सर्व प्रथम

साधन है—श्रद्धा, जिस मन्त्र के प्रति श्रद्धा न हो वह कभी सिद्ध नहीं हो सकता। श्रद्धा के पश्चात् ही साधक उसके करने का संकल्प करता है।

संकल्प से ही प्रसुप्त आन्तरिक शक्तियों का जागरण होता है। जब वे शक्तियाँ जाग्रत् हो जाती हैं तभी उनके द्वारा सुख, शान्ति, आनन्द, ऐश्वर्य, यश आदि की प्राप्ति हो सकती है। वही जाग्रत् हुई शक्तियां साधक को पाप-रहित एवं पवित्र बना कर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति कराती हैं।

संकल्प के पश्चात् मन्त्रा जप के अभ्यास में चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है। मन्त्र के प्रत्येक अक्षर के अर्थ पर विचार करते हुए उसमें तन्मय हो जाना बहुत आवश्यक है। क्योंकि उस तन्मयता के कारण सभी बिखरी हुई शक्तियाँ एकत्रित होने लगती हैं। ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर ही यह समझा जा सकता है कि साधक कुछ सफलता की ओर अग्रसर हो रहा है।

जप के लिए किसी सुविधाजनक स्थिति में बैठना उचित रहता है। जहाँ बैठकर जप किया जाय वह स्थान पवित्र, खुला हुआ, स्वच्छ होना चाहिए। क्योंकि अस्वच्छ या अपवित्र स्थान में बैठने पर चित्त का एकाग्र होना कठिन है। किसी समतल भूमि को धो-पोंछ कर उस पर कुशा आदि का आसन बिछावें। उसे कोमल बनाने के लिए ऊपर से ऊनी या रेशमी वस्त्र की गद्दी बनाई जा सकती है। ऐसे आसन पर सामान्य, सुविधाजनक स्थिति में पालथी मारकर अथवा किसी योगासन-सुखासन, पद्मासन, अर्द्धपदयासन आदि में से जिस आसन से भी सरलता पूर्वक बैठ सके, उससे बैठकर मन्त्र-जप का आरम्भ किया जाना चाहिए।

साधना की स्वतंत्र प्रक्रिया जप

मन्त्र को यद्यपि एक स्वतन्त्र प्रक्रिया माना जाता है। परन्तु कुछ आचार्य यह मानते हैं कि उसका जप उससे सम्बन्धित उपचारों के साथ

किया जाय तो उसमें तन्मयता अधिक बढ़ती और प्रभाव भी शीघ्र होता है। उन उपचारों में यह आवश्यक समझा गया है कि जिस देवी देवता से सम्बन्धित मन्त्र हो, उसका चित्र या प्रतिमा सामने रखकर उसके आगे दीपक जलावें और धूप, चन्दन, कुंकुम, अक्षत, पुष्प, पुष्पमाल, ताम्बूल, नैवेद्य आदि से पूजन करें। ऐसा करने से भावनात्मक तन्मयता के साथ विशेष प्रभाव का आविर्भाव होता है।

जब तक जप किया जाय, तब तक घृत का दीपक अखण्ड रूप से जलता रहे। मन्त्र के प्रति पूर्ण विश्वास और उनके अर्थों के चिन्तन में तन्मयता रखते हुए अधिक समय तक मन्त्र का जप करना चाहिए उसके साथ ही दिनचर्या इतनी संयमित और शुद्ध रहनी चाहिए कि किसी प्रकार के विकार के उत्पन्न होने की सम्भावना ही न रहे।

शुद्ध आहार-विहार, अल्प भोजन, इन्द्रिय-संयम, सत्यवादिता आदि के साथ व्रत-उपवास आदि के परायण रहना और परमात्मा में विश्वास रखना, इसे तपस्या कहते हैं। मन्त्र-सिद्धि के लिए इसकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है। जो लोग इस प्रकार की दिनचर्या नहीं रखते, वे सफल नहीं हो पाते।

इस प्रकार के शुद्धाचरण के साथ मंत्र जप का अभ्यास उसकी सिद्धि में सहायक होता है। जप का अभ्यास करने से पूर्व उसकी शक्ति का ज्ञान अवश्य कर लेना चाहिए। प्रायः सभी आचार्यों की मान्यता है कि गायत्री मन्त्र से बढ़कर कोई मन्त्र नहीं है, वह भोग और मोक्ष सभी कुछ प्रदान करने वाला है। उसके प्रत्येक अक्षर में त्रैलोक्य का सम्पूर्ण वैभव विद्यमान है, इसलिए इसकी सिद्धि जिस उद्देश्य से की जाती है, उसी उद्देश्य में सफलता प्राप्त होती है।

प्रार्थना की महान् शक्ति में याचनात्मक ऊर्जा का प्रभाव

किसी मन्त्र के जप से ही सर्व प्राप्ति हो सकती हो, ऐसी बात नहीं

है। प्रार्थना में भी कुछ कम शक्ति नहीं है। यदि वह सच्चे हृदय से की जाय तो प्रार्थी क्या नहीं पा सकता ? परन्तु इसमें भी अराधक और आराध्य के मध्य भावनात्मक एकता होजाती आवश्यक है।

प्रार्थना-मन्त्र के अर्थों पर विचार करते हुए उनमें तन्मय होजाना ही भावनात्मक एकता को उत्पन्न करता है। उस समय आराधक अपने आराध्य की शक्ति के आगे किसी अन्य की शक्ति के आगे किसी अन्य को शक्ति को तुच्छ समझता और अराध्य से हो यथावाक्षा याचना करता है। उस याचना में दृढ़ विश्वास रहे तो उसमे उत्पन्न हुई याचनात्मक ऊर्जा भगवान् के चरणों में जा उपस्थित होती है। यही साधक का अपने प्रभु में समर्पण है। भगवान् स्वयं कहते हैं—'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (गीता) अर्थात् 'सभी धर्मों (के आश्रयों) को छोड़ कर एक मेरी ही शरण में आ।' और इस प्रकार का पूर्ण समर्पण प्रार्थना के द्वारा सहज ही सम्भव है ?

प्रार्थना का वास्तविक अर्थ है—माँगना या याचना करना। याचना का यह कार्य उसी के प्रति होता है जो याचित वस्तु के देने में समर्थ हो। यदि याचना अलौकिक है तो उसकी पूर्ति भगवान ही कर सकते हैं। इसलिए भगवान से की गई प्रार्थना ही सब प्रकार की कामना—भोग और मोक्ष दोनों प्रकार की ही इच्छा को पूर्ण करने में समर्थ होती है।

जीव में 'आनन्द' गुण का न्यूनता

सभी शास्त्र स्वीकार करते हैं कि 'ईश्वर ही पूर्ण है' कोई अन्य पूर्ण नही हो सकता। प्राणी जब संसार में आता है तब वह मल के आवरण से लिप्त होकर अपनी पूर्णता को खो बैठता है। उसका आत्मा परमात्मा स्वरूप होते हुए भी परमात्मा के सत्, चित् आनन्द गुणों में से एक गुण खो देता है। वह सत्, चित् तो रहता है, परन्तु उसका तीसरा गुण

आनन्द देह के आवरण के कारण ढक जाता है। अज्ञानान्धकार के कारण ज्ञान आवरित हो जाता है, जिससे उसके सूक्ष्म नेत्र नहीं रहते। इसलिए उसे संसार का यथार्थ रूप दिखाई नहीं देता।

संसार के और अपने स्वरूप को यथार्थता से परे देखने के कारण ही उसे अनेकों कष्ट उठाने पड़ते हैं। उसी के कारण वह भवसागर के भवर जाल में फँस कर चक्कर काटता रहता है। यदि कभी कोई पूर्व जन्म का संस्कार उदित हो जाता है, तब उसे उस सर्व-शक्तिमान परमात्मा की याद जाती है और तभी वह उससे याचना करने का संकल्प करता है।

ईश्वर ही सर्व शक्तिमान है, ऐसा विश्वास करने की जाने वाली याचना ही फलवती हो सकती है। यदि ईश्वर से शक्ति प्राप्त करने की इच्छा हो तो साधक को अपने द्वारा की जाने वाली प्रार्थना में अपना हृदय खोल देना चाहिए। तभी उसकी शक्ति का प्रवाह साधक की ओर मोड़ लेगा। अन्यथा प्रार्थना का प्रभाव कुछ भी नहीं होगा वह कहने भर की प्रार्थना रह जायगी।

प्रार्थना में प्रार्थी के हृदय में तन्मयता अत्यन्त आवश्यक होती है। अपने हृदय के समस्त भावों को प्रभु-चरणों में समर्पित करके उनमें एकीभाव स्थापित करने से ही अंश का अंशी से योग होता है। मनुष्य स्वयं को भूल कर भगवान् मय हो जाय, उसी प्रकार, जिस प्रकार कि ब्रज की गोपियाँ भगवत्मय होगई थीं। जब तक प्रार्थना में इतनी भावनात्मक एकता उत्पन्न नहीं होगी, तब तक प्रार्थना की सिद्धि असम्भव है।

प्रार्थना और पश्चात्ताप की समान स्थिति

कुछ आचार्यों की मान्यता है कि प्रार्थना पश्चात्ताप का ही एक लक्षण है। अभावों में डूबा हुआ मनुष्य जब कष्ट भोगता है, तब उसे

पश्चात्ताप होने लगता है कि मैंने ऐसा कर्म क्यों नहीं किसी, जिससे कि मैं भी उन ऐश्वर्यों को प्राप्त कर सकता ? और फिर वही पश्चात्ताप उसे प्रेरित करता है प्रभु से याचना करने के लिए।

इसीलिए एक विचारक का कथन है कि 'प्रार्थना का आमन्त्रण अवश्य ही आत्मा की व्याकुलता का द्योतक है। क्योंकि 'प्रार्थना में हमारे अधिक उत्कृष्ट और अधिक शुद्ध होने की आतुरता का समावेश रहता है।'

अनेक विद्वान मानते हैं कि प्रार्थना वाणी से नहीं, हृदय से होती है। जब तक हृदय अपने में विद्यमान परमात्मा के प्रति आकर्षित नहीं होता, तब तक उसकी पुकार परमात्मा तक न पहुँच कर केवल आकाश से टकराती हुई ही विलीन हो जाती है। इसलिए हृदय गत भाव ही साधक की प्रार्थनाओं को साध्य तक पहुँचाने में समर्थ होते हैं।

महात्मा गाँधीजी आदि अनेक विचारक प्रार्थना के अर्थ पर विचार करते हुए समय-समय पर उद्‌गार प्रकट करते रहे हैं। गाँधीजी उसे 'आत्मा की पुकार' कहत थे। आत्मा की पुकार की सदैव अनुकूल प्रभाव होता है। विनोवाजी के अनुसार प्रार्थना मन की मलीनता दूर होकर शुद्ध-पवित्र बन जाता है।

आत्मा के लिए आवश्यक आहार प्रार्थना

गाँधीजी का कथन है कि 'आत्मिक आहार शारीरिक आहार से भी आवश्यक है। अन्न शारीरिक आहार और प्रार्थना आत्मिक आहार है। एक अन्य विचारक के अनुसार 'अब हम अन्य सभी आश्रयों को छोड़ एक मात्र ईश्वर पर भरोसा करते हैं तब हमारा हृदय सच्चे भावों से अभिभूत होकर आत्मा की द्योतक बन जाता है।'

प्रार्थना का आरम्भ होते ही आन्तरिक क्षेत्र में एक प्रकार की हलचल होने लगती है। वह हलचल ही क्रिया-शीलता का रूप ग्रहण कर

लेती है और तब उसके द्वारा अन्तर्जगत् में नवीन सृष्टि की रचना का आरम्भ होता है। इस प्रकार प्रार्थना के द्वारा प्रार्थी विभिन्न शक्तियों और सिद्धियों को प्राप्त कर लेती है।

परन्तु सच्ची प्रार्थना के लिए स्वस्थ मन की अपेक्षा रहती है। यदि मन पर विभिन्न विकारों का आवरण चढ़ा होता है, तो उसमें आत्मा की सच्ची अनुभूति नहीं होती और जब आत्मानुभूति नहीं, तो उसका कोई अनुकूल फल भी नहीं निकल सकता।

प्रार्थना में आध्यात्मिकता का पूर्ण रूप से समावेश रहता है। कुछ विचारकों के अनुसार प्रार्थना एक आध्यात्मिक व्यायाम है, जो मन को स्वस्थ बनाने में समर्थ हैं। जिस प्रकार शारीरिक व्यायाम से शरीर पुष्ट, सबल और स्वस्थ होता है, उसी प्रकार आध्यात्मिक व्यायाम से मन और आत्मा को बल प्राप्त होता है।

वह आत्मिक सबलता ही आत्मिक शक्तियों के जागरण में सहायक होती है। मनुष्य शरीर के प्रत्येक अंग में दिव्य शक्तियाँ विद्यमान तो रहती हैं, परन्तु वे मन की मलीनता के कारण सोयी हुई पड़ी रहती हैं। उन शक्तियों को जगाने में आत्मिक बल ही सहायता सिद्ध हो सकता है।

जब वे शक्तियां जाग्रत् हो जाती हैं, तब चित्त तो प्रफुल्लित होता है, उसमें शान्ति और संतोष का समावेश होने से सब प्रकार की निर्बलताएँ दूर हो जाती हैं। उसके फलस्वरूप आत्मा का प्रवाह भीतर से बाहर की ओर आने लगता है, वही एक दिव्य रूपलब्धि सिद्ध होती है। क्योंकि उससे स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के विकार दूर हो सकते हैं।

प्रार्थना से नवीन शक्तियों का आविर्भाव

इस प्रकार प्रार्थना से उन शक्तियों का ही जागरण नहीं होता, नवीन शक्तियाँ भी आविर्भूत होने लगती हैं। अब यह अपनी प्रार्थना

की परिपक्वता पर निर्भर करता है कि वह किस प्रकार को, कितनी नई शक्तियों को उत्पन्न करने में समर्थ है।

प्रार्थना में चमत्कारी प्रभाव उत्पन्न करने के लिए तन्मयता की अपेक्षा होती है। चित्त में जितनी अधिक एकाग्रता होगी, शक्ति में उतनी ही अधिक सबलता का होना स्वाभाविक है। क्योंकि एकाग्रता से ही आत्मा-परमात्मा सम्बन्ध जुड़ना सम्भव है।

एक पश्चिमी विचारक चार्ल्स फिलमोर का कथन है, कि 'प्रार्थना का उद्देश्य अपनी विचार-धारा को बदलना ही है। क्योंकि विचार-धारा का ही परिवर्तन हो सकता है, ईश्वर का नहीं ईश्वर तो सदैव सब की मंगल कामना करता है। परन्तु, मनुष्य जब ईश्वर के साथ एकात्मा स्थापित करने में असफल रहता है, तभी वह मंगल से दूर रहता है।

इस प्रकार प्राथना के माध्यम द्वारा मनुष्य परमात्मा की समीपता प्राप्त करने में भी सफल हो जाता है और वही एक ऐसी उपलब्धि है जो सर्व कल्याण में सहायक सिद्ध हो सकती है। उस उपलब्धि का लाभ गायत्री के योग से अवश्य ही प्राप्त किया जा सकता है।

आराधना और उसकी शक्ति

आराधना आ अर्थ वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा आराध्य से साक्षात्कार का लाभ उठाया जा सकता है। आराध्य वह है, जिसे सर्वोपरि और सवश्रेष्ठ मानता हो। कोई अन्य उससे अधिक प्रिय न हो। उसमें चित्त को पूर्ण रूप से समर्पित कर देना ही आराधना है।

जिस उपाय से मनुष्य अपने में ईश्वरीय गुण का समावेश कर सके, वह उपाय आराधना ही है। उसके द्वारा दुर्लभ तत्व सुलभ हो जाता है। कुछ विद्वान् इसका अर्थ पूजा और भक्ति लगाते हैं तथा कुछ के मत में इसका अर्थ भजन और ध्यान बताते हैं।

आराधना के अनेक पर्याय हैं—उपासना, भक्ति, भजन, चिन्तन तथा योग आदि। जप, तप, पूजन, परिचर्या, सेवा, यज्ञ, श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि यह सब आराधना के अंग समझे जाते हैं। यह सभी मन को एकाग्र बनाने में सहायक सिद्ध होती हैं। जब तक मन में एकाग्रता नहीं आती, तब तक आराधना की सफलता भी सन्देहास्पद रहती है।

कुछ विद्वान् आराधना का अर्थ अनन्यतम भाव से आराध्य का ध्यान मानते हैं। उनके अनुसार जब तक ईश्वर का अनन्य भाव से निरन्तर ध्यान किया जायगा, तब तक आराधना की प्रक्रिया कोई अनुकूल प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकेगी।

वस्तुतः आराधना का अभिप्राय भक्ति से है। क्योंकि भक्ति से चित्त का मल दूर होकर एकाग्रता उत्पन्न होती है। यथा—

धर्मार्थ काम मोक्षाणां ज्ञान वैराग्ययोरपि।
अन्तःकरणशुद्धेश्च भक्तिः परम साधनम्॥

अर्थात्—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ज्ञान और वैराग्य तथा अन्तःकरण की शुद्धि का भी परम साधन भक्ति की ही है।

विद्वानों ने आत्म-शुद्धि को ही भक्तों की सर्वोपरि उपलब्धि माना है, क्योंकि उसके बिना आत्मोत्थान की सीढ़ियों पर चढ़ना कोई सरल कार्य नहीं है। इसके बिना मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाले नेत्र नहीं खुल पाते।

इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि से एकाग्रता उत्पन्न होती और उस एकाग्रता के द्वारा परमात्मा के साक्षात्कार की जो अनुभूति है, वही आराधना का फल है। सस अनुभूति को गायत्री के द्वारा सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। क्योंकि गायत्री मन्त्र में वह शक्ति है जो दिव्य जीवन के स्रोत को खोल देती है। 'गायत्र्या परमं नास्ति दिवि चेह च पावनम्' (शंख स्मृति) अर्थात् 'लोक-परलोक दोनों में ही गायत्री से बढ़ कर कोई भी मन्त्र पवित्र करने वाला नहीं है।'

स्वामी विवेकानन्द के मत में 'गायत्री सद्बुद्धि का मन्त्र होने के कारण उसके द्वारा परमात्मा से सद्बुद्धि माँगने में ही सहायक होता है।' संसार के सभी कार्य सद्बुद्धि से ही हो पाते हैं, जिनमें सद्बुद्धि ही सब सुखों की प्राप्ति का एक मात्र साधन है।

गायत्री मन्त्र की विशेषताएँ

गायत्री मन्त्र में अनेक विशेषताएँ हैं, उनमें दो विशेषताओं की ओर संकेत करना प्रसंगवश अत्यावश्यक होगा। एक विशेषता तो यह है कि गायत्री मन्त्र आराध्य का पूरक है और दूसरी विशेषता यह है कि वह स्वः आराधना है। इस प्रकार गायत्री मन्त्र आराध्य और आराधना दोनों ही है। वह परमात्मा भी है और परमात्मा को प्राप्त कराने वाला साधन भी। अकेले इसी मन्त्र का चिन्तन करते हुए साधक की साधना भी होने लगती है और भगवान् भी मिल जाते हैं यथा—

गायत्री आराध्य है, आराधन भी जान।
भक्ति वही अनुपायिनी, वही इष्ट भगवान ।।

तो आराधना दोनों ही गायत्री में समाविष्ट हैं। उसके द्वारा आत्मा और परमात्मा का मिलन होकर सायज्य मोक्ष की प्राप्ति सम्भव होती है। भोग और मोक्ष जो कुछ भी इच्छित हो वह गायत्री मन्त्र के द्वारा सहज ही प्राप्त किया जा सकता है। योगिजनों को जो उपलब्धि बड़ी कठिनता से हो पाती है, वह गायत्री के द्वारा सहज सम्भाव्य मानी जाती है।

साधकों, उपासकों की दृष्टि में

गायत्री साधना महत्व

गायत्री साधना को अनेक महा पुरुषों ने सर्वश्रेष्ठ और मानव-मात्र के लिए कल्याणकारी माना है। बहुत-से विचारक, विद्वान्, दार्शनिक,

सर्वमान्य नेता, पूज्य पुरुष आदि समय-समय पर गायत्री साधना के विषय में अपने-अपने विचार प्रकट करते रहे हैं। महात्मा गाँधीजी ने कहा— 'शान्त हृदय और स्थिर चित्त से किया जाने वाला गायत्री मन्त्र का जप आपत्कालीन संकटों को दूर करने में प्रभावशाली और आत्मा की उन्नति में उपयोगी है।'

महामना मदनमोहन मालवीय के मत में 'गायत्री के द्वारा भौतिक अभाव दूर हो सकते हैं और ईश्वर-परायणता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं।' इसका अभिप्राय हुआ कि गायत्री मन्त्र भौतिक और दिव्य दोनों प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करने में समर्थ है।

लोकमान्य तिलक ने भी गीता और गायत्री पर बहुत कुछ कहा है। उनके अनुसार गायत्री मन्त्र के द्वारा कुमार्ग को छोड़कर समार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। इसी के द्वारा साधक सत्-असत् के विवेक और आत्मा के प्रकाश से सम्पन्न हो सकता है।

सद्बुद्धि का सरल मन्त्र

स्वामी विवेकानन्द इसे सद्बुद्धि का मन्त्र मानते हुए इसके द्वारा सद्बुद्धि के प्रेरण से सद्धर्म और सत्कर्म की उपलब्धि तथा सर्व प्रकार के सुखों की प्राप्ति होना बताते हैं।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने गायत्री मन्त्र के अनुभव द्वारा जो निष्कर्ष निकाला वह बड़ा महत्वपूर्ण है। उनके अनुसार गायत्री के जप से साधक को अत्यन्त शक्ति-सामर्थ्य की प्राप्ति होती है।

स्वामी विरजानन्दजी महर्षि दयानन्द के पूज्य गुरुदेव थे। उन्होंने ऋषिकेश में गायत्री-मन्त्र के जप का अभ्यास किया था। वे वहाँ निर्जन वन में कुटी बनाकर रहते थे। वे सब गायत्री के जप में निमग्न रहे आते। प्रातःकाल स्नानादि से निवृति होकर गंगाजी के जल

में कण्ठ पर्यन्त शरीर डुबोये खड़े रह कर गायत्री जप करते रहते थे। जब वे अपनी कुटी में होते, तब अनेक बार वन के हिंसक जीव उनकी कुटी को खटखटाते, परन्तु स्वामीजी को उनसे कभी कोई भय नहीं हुआ।

महर्षि दयानन्द भी गायत्री की उपासना करते थे। एक बार उन्होंने अपने भाषण में कहा था—'गायत्री मन्त्र के अर्थ पर विचार आवश्यक है। इस मन्त्र के द्वारा सम्पूर्ण विश्व के उत्पत्तिकर्त्ता परमात्मा के श्रेष्ठ तेज का ध्यान करने से बुद्धि की मलिनता दूर होकर धर्माचरण में श्रद्धा और योग्यता का आविर्भाव होता है। प्रार्थना के ऐसे मन्त्र की गहनता और सत्यता अन्य किसी मत में नहीं है।'

परमात्मा ही गायत्री है

ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में महर्षि दयानन्द ने ही शतपथ ब्राह्मण का उद्धरण देते हुए कहाकि 'प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बल ॐ सत्यादोजीयः। इत्येवम्वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठता। सा हैषा गयांस्तत्रे। प्राणा वै गयास्तत्प्राणांस्तत्रे। तद्यद्गयांस्तत्रे गायत्रीनाम्।' अर्थात् 'प्राण ही बल है, उस प्राण में (सत्य) प्रतिष्ठित है। इसीलिए प्राण को बल कहते हैं। परमात्मा प्राण का भी प्राण है, उसका प्रतिपादन गायत्री मन्त्र करता है, उसे 'गया' (भी) कहते हैं। प्राण को भी 'गया' कहा गया है, उसे प्राणायाम के द्वारा प्राण को रोक कर भक्ति करे तो उससे पितरगण भी तर जाते हैं। प्राणों का रक्षक होने के कारण परमात्मा का नाम गायत्री और गायत्री का नाम परमात्मा समझना चाहिए।

कवीन्द्र रवीन्द्र इस मन्त्र को जागरण का महामन्त्र मानते हुए कहते हैं कि "यह मन्त्र भारत देश को जाग्रत कराने वाला और इतना सरल है कि इसे एक ही श्वास में बोला जा सकताहै। 'भुः भुवः स्व' का

उच्चारण करते हुए मन में त्रैलोक्य का एकत्रित स्वरूप लाना चाहिए। उसके साथ ही ऐसी भावना करे कि मैं किसी देश विशेष का नहीं' सम्पूर्ण विश्व का निवासी हूँ। मेरे रहने वाले राजभवन की एक-एक दीवार यह लोकलोकान्तर हैं, ऐसा मानते हुए समस्त विश्व के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे। जैसे कोई मनुष्य स्वास्थ्य-लाभ की इच्छा से शुद्ध वायु सेवनार्थ खुले मैदान की ओर जाता है, वैसे ही नित्य प्रति असंख्य नक्षत्रों से सुशोभित इस विश्व में खड़ा होकर इस मन्त्र का उच्चारण करना उचित है। ब्रह्म-ध्यान की यह प्राचीन पद्धति जितनी परम उदार है, उतनी ही बहुत सरल है। इसमें किसी प्रकार की बनावट या व्यर्थता का किंचित् भी समावेश नहीं है। हमारे पास बाह्य जगत् और आन्तरिक बुद्धि के अतिरिक्त अन्य कुछ है क्या ? परमात्म देव अपनी अथक शक्ति के द्वारा दिवस-रात्रि प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं। यदि हम इसका अनुभव कर लें तो हम परमात्मा से अपना चिरस्थायी सम्बन्ध बनाने में सफल हो सकते हैं। मैं नहीं समझता कि किसी अन्य कौशल, अन्य सामग्री, कृत्रिम साधन या मानसिक विचारोद्वेग की स्थिति में यह हो सकता है। इस पुनीत मन्त्र के अभ्यास में किसी अन्य प्रकार के तर्क या मतभेद को अवसर ही नहीं है और न उसमें किसी प्रकार की व्यक्तिगत समीपता अथवा संकीर्णता ही मिलती है।"

गायत्री की प्राणदायिनी शक्ति

महात्मा आनन्दस्वामी सरस्वती अपनी 'आनन्द गायत्री कथा' नाम की पुस्तक में लिखते हैं—'वेद कहता है आयु के साथ-साथ गायत्री अपने जाप करने वाले को प्राण देती है, और रोग निर्बलता उसके पास नहीं आतीं। आयें तो शीघ्र ही निवृत्त हो जाती हैं, किन्तु केवल आयु और स्वास्थ्य ही तो मनुष्य की इच्छा नहीं। वह सन्तान भी चाहता है, और वेद कहता है कि गायत्री सन्तान देती है, पुत्र देती है।'

स्वामीजी आगे लिखते हैं—'मनुष्य की इच्छा यह सब लेकर भी पूरी नहीं होती। आयु, प्राण, सन्तान, धन-सम्पत्ति, घोड़े, हाथी, मोटर कारें और वायुयान सब कुछ मिल जाये तो भी एक इच्छा उसके मन में रहती है—'कीर्ति की इच्छा, इस बात की इच्छा कि उसका सम्मान हो, उसके यश का विस्तार हो। और वेद कहता है कि गायत्री अपने जाप करने वाले को सुयश देती है।

और फिर यही नहीं, वेद इससे आगे भी कहता है—गायत्री हमें ब्रह्मवर्चस्व (मुख की कान्ति) भी देती है, जिसे देखते ही प्रत्येक्ष दर्शक झुक जाता है। गायत्री का जाप करने वाल के सामने कोई आंख नहीं उठा सकता।

गायत्री से आयु-वर्द्धन

महात्मा प्रभु आश्रितजी अपनी गायत्री रहस्य' पुस्तक में लिखते हैं—'परन्तु गायत्री माता का आशीर्वाद ऐसे व्यर्थ नहीं जाता। गायत्री का सच्चा उपासक अपनी इन्द्रियों का दमन करता है, मान का शमन करता है, प्राणों को स्वस्थ रखता है। इससे उसकी आयु बढ़ती है, निरोगता रहती है, बल तथा तेज की वृद्धि होती है। पुत्रोत्पादन शक्ति पुष्ठ होकर स्वस्थ, बलवान, पराक्रमी तथा तेजस्वी पुत्र होता है। और लोगों के समान मरियल संतान पैदा नहीं होती। गायत्री उपासक की संतान भी शरीर, मन तथा आत्मा तीनों से बलवान उत्पन्न होगी।

गायत्री माता का प्रदान किया हुआ धन भी ऐसा वैसा नहीं होता। उससे यश तथा कीर्ति तो या फैलती है जैसे वायु। इस धन की शक्ति का तो कहना ही क्या है? यदि ब्राह्मण उपासक है तो उसका धन ज्ञान का धन होगा। अग्नि के समान तीव्र और तेजोमय उपासक यदि क्षत्रिय है तो उसका धन, शास्त्र बल तथा शक्ति का धन होगा। वायु के समान पाप, अनर्थ और अन्याय रूपी बड़े से बड़े वृक्षों को जड़ से

उखाडकर धरती पर फेंक डालने वाला होगा। जैसे वायु के आक्रमण को कोई रोक नहीं सकता, न उस पर कोई बंधन ही लगा सकता है, वैसे ही गायत्री-उपासक क्षत्रिय भी अजेय और अदम्य होता है। यदि उपासक वैश्य है, तो उनका धन द्रव्य का धन होगा। जल के समान दूर-दूर जाकर उसके यश और कीर्ति को फैलाने वाला होगा, प्राणीमात्र उससे सुख लाभ और सन्तोष प्राप्त करेंगे।

पुनर्जीवन का स्रोत प्रवाहित करने वाली प्रार्थना

प्रसिद्ध दर्शनिक एवं भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन का कहना था कि 'यदि इस सार्वभौमिक प्रार्थना गायत्री पर विचार करें तो प्रतीत होगा कि सचमुख ही कुछ ठोस लाभ हो रहा है। गायत्री हमारे भीतर पुनर्जीवन का स्रोत प्रवाहित करने में एक सच्ची आकुल प्रार्थना सिद्ध होती है। यह एक खोज, एक साहसिक अनुसंधान है। जहां तक धार्मिक जीवन से सम्बन्धित खोज का प्रश्न है, वहां 'इति' शब्द की की किसी रेखा का खींचा जाना सम्भव नहीं है, क्योंकि इसका कभी कोई अन्त हो ही नहीं सकता। दार्शनिक शब्द का अर्थ सत्यता का पाठ पढ़ाने वाला नहीं, वरन् सत्यता की खोज करने वाला है, प्रकाश पाने या मार्ग खोजने के लिए खोज जन समूह के मध्य में नहीं की जा सकती, वरन् इसके लिए तो मौन, एकांत, शान्त अन्तराल में करनी होती है। ध्यान रूपी साक्षात्कार के द्वारा अन्तरात्मा के मध्य लगी हुई ग्रन्थि को देखा जा सकता है। इसलिए गायत्री से सम्बन्धित खोज को निरन्तर जारी रखना चाहिए।

सर्व शक्ति दायिनी गायत्री

गायत्री विद्या से परम विद्वान् आचार्य श्रीरामशर्मा ने अपने अनुभवों की चर्चा करते हुए एक बार कहा था कि 'संसार के सभी मनुष्य भौतिक

सुखों की प्राप्ति के प्रयत्न में जीवन भर लगे रहकर भी उसमें सफलता प्राप्त नहीं कर पाते । उन्हें मालुम नहीं कि हमारे ऋषियों ने एक ऐसी दिव्य शक्ति की खोज करली है, जिसका आश्रय लेने वाला व्यक्ति कभी निराश नहीं होता । उसे किसी अभाव या सङ्कट का कभी सामना नहीं करना पड़ता । वह शक्ति लोक में गायत्री मन्त्र के नाम से विख्यात है । उसका जप करने वाला मनुष्य अपने शरीर में उन सभी शक्तियों का समावेश करने में सफल हो सकता है, जिनके द्वारा आयु, बल, धन, सन्तान, सुयश आदि सभी कामनाएँ पूर्ण होकर अन्त में मोक्ष की प्राप्ति होती और साधक जन्म-मरण के बन्धन से छ्ट जाना है ।

सन् १९२१ में तिब्बिया कालेज दिल्ली का उद्‌घाटन करते हुए महात्मा गांधी ने गायत्री के विषय में जो उद्‌गार व्यक्त किये थे वे ध्यान देने योग्य है । उन्होंने कहा था—

वर्तमान चिकित्सा प्रणाली धर्म से सर्वथा शून्य है । जो व्यक्ति उचित रूप से प्रतिदिन निमाज पढ़ता है या गायत्री का जप करता है, वह कभी रोग ग्रस्त नहीं हो सकता । एक पवित्र आत्मा ही पवित्रशरीर निर्माण कर सकता है । मेरा दृढ़ निश्चय है कि धार्मिक जीवन के नियम आत्मा और शरीर दोनों का यथार्थ रक्षा कर सकते हैं ।

हरिद्वार में एक योग-जिज्ञासु रहते थे । उनका संस्कृत भाषा पर बहुत अधिकार था और गायत्री-उपासना तो उनकी सर्वोपरि दिनचर्या थी । उनका कथन था कि 'वैदिक मन्त्रों में गायत्री ही एक ऐसा मंत्र है, जिसकी समानता कोई अन्य मंत्र नहीं कर सकता । वेदों के अतिरिक्त अन्य कोई भी मन्त्र गायत्री जैसी अत्भुत शक्ति वाला मन्त्र नहीं दे सकता । गायत्री मन्त्र सब प्रकार के मानव कल्याण में पूर्ण समर्थ है । इसका साधक भोग और मोक्ष सभी कुछ प्राप्त कर सकता है ।'

गायत्री-साधक के आशीर्वाद की शक्ति

एक बार एक संन्यासी महाराज से भेंट हुई । देखने में सीधे-साधे और अल्प भाषी लगे । समझा गया कि बेचारे भूखे होंगे, रोटी मांगने

आये होंगे। उनके समक्ष भोजन उपस्थित किया गया तो बोले—'वत्स! आज तो मैं पूर्ण तृप्त हूँ, फिर किसी दिन भूख लगी और यहाँ तक आ सका तो तेरा अन्न ग्रहण करने का प्रयत्न करूंगा।' यह सुन कर प्रश्न करना स्वाभाविक था—'तो महाराज! कोई और आज्ञा?' उन्होंने उत्तर दिया—'तू कुछ श्रेष्ठ आचरण वाला प्रतीत हुआ, इसलिए इधर आकर्षित होगया था।' और यह कह कर संन्यासी जी चले गए।

फिर उनके दर्शन एक वर्ष से भी अधिक समय तक नहीं हुए। उसके पश्चात् एक दिन वे आये और अन्न-भिक्षा की याचना की। उन्हें सत्कार पूर्वक बैठा कर भोजन करने का निवेदन किया तो वे बोले—'वत्स! हमको तो एक या दो रोटी ही चाहिए। यहां बैठ कर नहीं ले जाते हुए जहाँ सुविधा होगी वहीं खा लेंगे।' उन्हें दो रोटियाँ दे दीं गई और कुछ अन्य सेवा बताने के लिए निवेदन किया गया, तो उन्होंने कहा—बेटे! गायत्री के प्रताप से हम सदा पूर्ण काम रहते हैं। गायत्री का उपासक जब भी जो कुछ चाहे, तभी उसे इच्छित मिल जाता है। उसे भूख प्यास रोग-दुःख आदि नहीं सताते। तू भी गायत्री का नित्य प्रति जप किया कर, इसके प्रभाव से तुझे किसी बात की कमी नहीं रहेगी।'

बाद में पता लगा कि वे बहुत पहुँचे हुए महात्मा थे। वे किसी रोगी को धरती से उठाकर धूल की चुटकी भी दे देते तो वह उसके प्रभाव से पूर्ण स्वस्थ होजाता था। गायत्री के प्रभाव से उनके आशीर्वाद में ही बहुत बड़ी शक्ति समाविष्ट थी।

गायत्री साधना से काम्य फल की प्राप्ति

गोवर्द्धन की तरहठी में एक महात्मा विराजते थे। उनके विषय में में कहा जाता है कि वे निरन्तर भजन में लगे रहते और दर्शनार्थ आने वाले लोगों को वहाँ से जाने का संकेत करते रहते। वे नहीं चाहते थे कि भजन में विघ्न पड़े, परन्तु लोग मानते ही न थे। एक दिन एक व्यक्ति से उनसे प्रार्थना की कि 'महाराज! हमें संकट से बचने के लिये कोई सरल साधन बताइये।' महातमा बोले—भैया! भगवान् का भरोसा सभी

संकटों से बचाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है अथवा ग़ायत्री मन्त्र का जप करो, उससे लोक-परलोक दोनों ही सुधरते हैं । इसका उपासक जो चाहे, वही पा सकता है ।'

एकीभाव में निवेदन और आज्ञा की अभिन्नता

बहुत वर्षों की बात है—प्रयाग में एक सन्त मिले । वे गायत्री के परम उपासक थे । उनका कहना था कि 'जिसे कुछ प्राप्त करना हो, वह गायत्री से प्राप्त करे । क्योंकि गायत्री का साधक स्वय सब शक्तियों का केन्द्र बन जाता है वे शक्तियाँ भौतिक भी होती हैं और पारलौकिक भी । जिसकी जितनी-कार्यक्षमता है, वह शक्ति उतना कार्य अवश्य ही करेगी ।'

उनसे पूछा गया—'उन शक्तियों से समय पर कार्य लेने के लिये क्या करना होता है ? निवेदन, अनुनय-विनय अथवा आदेश ? इस पर सन्तजी ने बड़ी कोमलता से उत्तर दिया—'जहां अनन्यता है वहां अनुनय विनय और आदेभ में कोई अन्तर नहीं होता । जब एकीभाव स्थापित हो गया तब चाहे निवेदन हो अथवा आज्ञा दोनों का ही अर्थ समान होता है ।

शंका की गई—'वे शक्तियाँ स्वामिनी की भाँति विद्यमान रहती हैं या अनुगामिनी के समान ?' उन्होंने किंचत् व्यग्रता से देखते हुए कहा—'विजिता होते हुए भी वे स्वामिनी ही हैं' वत्स ! यदि उन्हें अनुगामिनी मान लिया जायगा तो चित्त में अहंकार की उत्पत्ति हो जाएगी और अहंकार के उत्पन्न होते ही शक्तियाँ पलायन कर जाएगी । क्या कभी किसी अहकारी मनुष्य के पास कोई सात्विक शक्ति रह सकती है ?'

उन्होंने फिर कहा—'अहंकार सभी दोषों का मूल है बेटे ! अहंकार को छोड़ कर, स्वयं को प्राणिमात्र का सेवक और शुभ-चिन्तक सिद्धि करो, तभी तुम्हारी गायत्री-साधना सफल हो सकती है ।'

जब उनसे साधना का नियम पूछा गया तो वे बोले—'सच्चे मन से गायत्री मन्त्र का उच्चारण करना ही उसकी सरल साधना है । परन्तु नियम यह है कि मन्त्रोच्चार के साथ-साथ उसके अर्थ पर भी विचार किया जाय । स्नानादि से पवित्र होकर मन को एकाग्र करो और गायत्री के अर्थ चिन्तन में लगादो । अधिक न कर सको तो एक बार, दो बार या जितनी बार कर सको करो । पुण्य कार्य तो थोड़ा-थोड़ा करने से भी संचित होता जाता है । यह मत समझो कि हमारे अल्प कार्य का क्या फल हो सकता है ? हिसाब सबका है, परमात्मा के पास तुम्हारे पाप-पुण्य का पूरा लेखा-जोखा रहता है पुत्र ! उसकी आँखों से कुछ भी नहीं छिपता । वह सभी के कार्यों को देखता और उन्हीं के अनुसार फल देता है ।'

सन्तजी की बातें सार-गर्भित लगीं । वे कहे जा रहे थे—'मिथ्या अहं में अपनी वास्तविकता को तिलांजलि न दो । भगवान के लिए सभी जीव प्यारे हैं । वे पापियों से भी घृणा नहीं करते, परन्तु कर्मफल देना तो उनका अनिवार्य नियम है । परन्तु जो लोग भगवान् के लिए ही अपने सब कर्मों का समर्पण कर देते हैं, उनके लिये वे कर्म अशुभ फल देने वाले नहीं होते । क्योंकि ऐसा मनुष्य कभी कोई अशुभ कर्म कर ही नहीं सकता । भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है—

त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।

अर्थात्—सांसारिक आश्रय से रहित और परमानन्द परमात्मा में सदा तृप्त रहने वाला पुरुष कर्मों के फल और संग अर्थात् कर्त्तव्य के अभियान को त्याग कर कर्म में ही भले प्रकार प्रवृत्त रहता हुआ भी कुछ नहीं करता ।

और कर्म करते हुए भी न करने की भावना सामान्य मनुष्य में नहीं हो सकती । उसे तो इसका ज्ञान होना चाहिए कि मैं जो कुछ भी

कर रहा हूँ वह स्वार्थ नहीं वरन् भगवान की प्रेरणा से कर रहा हूँ। वह ज्ञान उसे गायत्री मंत्र के अर्थ पर विचार करने से शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है। क्योंकि गायत्री मन्त्र 'धियोयो नः प्रचोदयात् के द्वारा भगवान् से सद्‌बुद्धि के प्रेरक की ही प्रार्थना करता है।'

वाणी की वाचालता रोकने के लिए मौन साधन

एक मौनी बाबा थे। वे मुख से कुछ न बोलते, केवल स्लेट या कागज पर लिखकर ही बातों का अदान-प्रदान करते थे। एक दिन हमने उनसे निवेदन किया—'महाराज ! आपने मौनव्रत क्यों धारण किया है ? उत्तर मिला—'वाणी को वाचालता से रोकने के लिए। मुख से बोलना जितना सरल है, उतना सरल लिखना नहीं है। मौन रखने से वाणी बाह्य विषयों से विमुख होने लगी है और मन्त्र के जप में प्रखरता आगई है।'

उनसे पूछा गया कि 'किस मन्त्र का जप करते हैं' तो उन्होंने स्लेट पर लिखा— गायत्री का, यही मन्त्र आत्मा की उन्नति में सहायक सिद्ध हो सकता है। इसके द्वारा अज्ञान का पर्दा हटता चला जाता है। 'गय' माने इन्द्रिय और 'त्र' माने त्राण होने से गायत्री शरीरस्थ इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करती है। और इन्द्रियों का अन्तर्मुखी होना ही अष्टांग योग का एक प्रमुख साधन प्रत्याहार है। महर्षि पतंजलि का योगसूत्र (२।५४) है—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त-स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' अर्थात् 'अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना ही प्रत्याहार है।' महर्षि ने अगले ही सूत्र में प्रत्याहार का फल बताते हुए कहा है—'ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्' अर्थात् 'प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमा वश्यकता हो जाती है।' इस प्रकार प्रत्याकार से इन्द्रिय जप

स्वतः हो जाता है, उसके लिए किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है।'

गायत्री-साधना द्वारा काल से मित्रता

उनसे पूछा गया कि 'गायत्री के साधन से अब तक क्या लाभ हुआ आपको ?' तो वे बोले—'मैं तो उपासना की प्रारम्भिक अवस्था में ही हूँ भगवन् ! फिर भी देखता हूँ कि आँखों के आगे से अज्ञान दूर होता जा रहा है। प्रयत्न में हूँ कि आत्मासाक्षात्कार कर सकूँ। गायत्री की कृपा हुई तो वह असम्भव नहीं है।'

एक और बाबा थे, जो विक्षिप्त जैसी चेष्टाएँ करते रहते। उनकी वेश-भूषा भी अजीब थी। शरीर पर टाट पहिनते और दाँये पांव में एक घड़ी बांधे रखते। लोग उन्हें ढोंगी समझ कर आवाजें कसते, किन्तु उन्हें उसकी किंचित् भी परवाह न होती। सबकी बातें अनसुनी कर देते और कोई कुछ पूछता तो मौन साध लेते।

एक बार एक सज्जन को उनसे बातें करने का अवसर मिल ही गया। वह भी इस प्रकार कि वे सज्जन उन्हें देखते ही उनके पाँवों में पड़ गए बाबा के बहुत छुड़ाने पर भी उन्होंने उन्हें नहीं छोड़ा। तब वे कुछ हँसते से बोले—क्या चाहता है भाई ?' उन्होंने कहा—'कुछ नहीं दो बातें पूछना चाहता हूँ – एक यह कि तुम पाँव में घड़ी क्यों बाँधते हो ? और दूसरी यह कि पागल जैसे क्यों बने रहते हो ?'

सज्जन के कथनानुसार बाबा का उत्तर इस प्रकार था—'तेरे पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि हर समय भगवान् के चिन्तन में मन को लगाये रहना चाहिए। ऐसा करने के समय अर्थात् काल तुम्हारे चरणों का अनुयायी रहेगा। तुम काल के विजेता रहोगे, काल तुम्हारा विजेयता नहीं बन सकेगा।'

उन्होंने पूछा—'तो आपने काल को जीत लिया है बाबा ?' वे बोले—'ऐसा अभिमान तो मैं नहीं कर सकता। फिर भी तुम इससे कुछ

अनुमान लगाओ कि मेरी आयु सवा सौ वर्ष की है। मैं अपने को काल त्रिजेता तो नहीं समझता, परन्तु उसका मित्र अवश्य समझता हूँ।'

अब उन्होंने दूसरे प्रश्न का उत्तर किया—'मेरी वेश-भूषा सांसारिक परिधानों से भिन्न तो है, परन्तु उसके उपादान भौतिक ही है। फिर भी उसमें जो विचित्रता दिखाई देती है वह त्रिलोकी की प्रतीक है। क्योंकि तीनों लोकों का वैभव धन की प्रमुखता नहीं रखता। उसमें तो निरभिमानता रहती है 'और टाट के परिधानों में मैंने उतना अभिमान नहीं पाया, जितना कि अन्य प्रकार के वस्त्रों में पाया जाता है। इस प्रकार टाट के परिधानों की विचित्रता त्रिलोकी की प्रतीक भी है। इससे मेरी आत्मा त्रैलोकी के ऐश्वर्य का आनन्द लेती रहती है और इस आनन्द की प्रेरणा मुझे गायत्री के 'भूः भुवः स्वः' से सहज ही प्राप्त हो गई है। क्योंकि—

न गायत्र्याः परोधर्मः न गायत्र्याः परन्तपः।
न गायत्र्याः सामो देवः न गायत्र्या समा बलः॥

अर्थात्—गायत्री से अधिक कोई धर्म नहीं गायत्री से बढ़ कर कोई तप भी नहीं, न गायत्री के समान कोई देवता है और गायत्री के समान कोई बल ही है।

इसलिए, हे वत्स ! गायत्री का आश्रय लेना चाहिए। जो साधक इस पूर्ण काम्या को छोड़कर किसी अन्य का सहारा लेते हैं, वे क्षुद्र शक्तियों को ही सिद्ध कर पाते हैं, जिनका फल कोई अधिक कल्याणकारी नहीं होता। क्योंकि अन्य शक्तियों के अनुष्ठान में किसी प्रकार की भूल-चूक अनजाने में भी हो जाय तो उसका उल्टा फल (प्रत्यवाय दोष) भुगतना पड़ता है।

परन्तु, गायत्री के साधक को प्रत्यवाय दोष का कोई भय नहीं होता भूक-चूक हो जाय तो क्षम्य है। 'जपतां जुह्वतां चैव विनिपाते न विद्यते'

अर्थात् 'गायत्री का जप और हवन करने वाले साधक का कभी विनिपात नहीं होता।'

यह कहकर बाबा चुप हो गए। उन सज्जन ने उनसे और भी कुछ जानने की चेष्टा की, परन्तु वे 'अब मुझे भजन करने दो, कहकर फिर बिल्कुल ही न बोले—

गृहस्थाश्रम का महत्व प्रतिपादन

ऋषिकेश में स्वर्गाश्रम से ऊपर नीलकण्ठेश्वर महादेव हैं। उन तक पहुँचने के लिए चढ़ाई चढ़नी होती है। बीहड़ मार्ग और ऊँची चढ़ाई के कारण दर्शनार्थी बुरी तरह थक जाता है। परन्तु वहाँ पहुँचने पर स्थान की रमणीकता सब थकान दूर कर देती है। दर्शन और विश्राम आदि के पश्चात् लौटने पर पर्वत से उतरना बहुत सरल होता है। उस पर्वत से नीचे का क्षेत्र यथार्थ में सिद्ध भूमि है। वहाँ का वातावरण अत्यन्त शान्त और मनोरम है।

इस पुस्तक का लेखक भी भगवान् नीलकण्ठेश्वर और पर्वत तथा उसके नीचे के वातावरण की सुरम्यता के आनन्द का सौभाग्य प्राप्त कर चुका है। परन्तु पर्वत से उतरते समय मार्ग भूल गया और उस बीहड़ बन में भटकने लगा। तभी उसे पर्वत के एक ओर कुछ रीछ कूदते हुए दिखाई दिये अब तो सिट्टी पिट्टी गुम, और यह सोचने लगे कि यदि इन खूंखार जीवों का ध्यान इधर आ गया तो प्राणों पर प्रत्यक्ष संकट है।

दबे पाँव वहाँ से खिसके, परन्तु उस बन क्षेत्र से बाहर निकलने का कोई उपाय समझ में नही आया। सायंकाल का झुकमुका बढ़ता जा रहा था तभी एक वृद्ध तेजस्वी सन्त बन के भीतर की ओर से आते हुए दिखाई दिये। लेखक की दृष्टि उनकी ओर गई तो कुछ सान्त्वना प्रतीत हुई।

महात्माजी ने आते ही कहा—'स्वर्गाश्रम जाओगे ? घबराओ मत, सामने ही तो स्वर्गाश्रम है परन्तु, अज्ञान के अन्धकार से तुम्हें दिखाई नहीं देरहा है।'

उनकी बात सुनकर लगा कि कुछ पहुँचे हुए सिद्ध या विद्वान् पुरुष हैं। उनसे शिष्टाचारवश निवेदन किया—'महाराज ! आपके आने से प्राण बच गए, अन्यथा वे रीछ या अन्य हिंसक पशु देर-अबेर में मार ही डालते।'

वे बोले—'अरे भाई ! कोई किसी को नहीं मार सकता न कोई किसी के मारे मरता ही है। यह तो तेरे-मेरे का अभिमान और माया-मोह की भांति मात्र है। जब तक इसमें पड़ा रहेगा, कुछ भी सूझेगा नहीं। उनसे प्रश्न किया गया—'तो उस भ्रान्ति से किस प्रकार बचा जाय ? जब तक साँसारिक बन्धनों में रहेंगे, तब तक भ्रान्ति मिट नहीं सकती और सन्यासी होना अपने लिए सम्भव नहीं है। तब इस अज्ञान से छुटकारे का उपाय ही क्या हो सकता है ?'

महात्माजी ने कहा—'तू कुछ विचारवान मनुष्य मालुम देता है। अज्ञान और भ्रांति को दूर करने के लिए सन्यासी होना हीं आवश्यक नहीं है गृहस्थ में रहकर भी उससे बचा जा सकता है।'

अपनी उत्सुकता बढ़ी तो उनसे प्रश्न किया—'यदि गृहस्थाश्रम में ही संन्यासाश्रम की सिद्धि हो सकती हो तो लोग संन्यासी ही क्यों बनें ? आप स्वयं भी सन्यासी ही प्रतीत होते हैं, आपने घर-बार क्यों छोड़ा ?

अपनी बात कहने लगा कि कुछ घृष्टता हो गई अपने से अब महात्माजी कहीं रुष्ट न हो जांय। परन्तु बात तो तीर जैसा ही फल रखती है, निकल गई सो निकल गई। लौट कर आने का तो कुछ प्रश्न ही नहीं हैं।

किन्तु यह देखकर चकित रह जाना पड़ा कि महात्मा पर उस प्रश्न का कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा। वे बोले—'बेटे ! जिनके मन में

पहले-से ही वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उनके लिए संन्यास ग्रहण करना ही कल्याणकारी प्रतीत होता है । मैं भी अपनी तरुणावस्था के प्रारम्भ से ही विरक्त होकर घर छोड़ बैठा और इसी वन में शान्ति पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा हूँ ।

परन्तु जो लोग सच्चा वैराग्य उत्पन्न हुए बिना ही संन्यासी हो जाते हैं । उनका मन बार २ विषयों की ओर दौड़ता है उस समय उनकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि 'इधर के रहे, न उधर के रहे ।' फल यह होता है कि साधना में मन नहीं लगता और ईश्वर प्राप्ति के सभी प्रयास निष्फल हो जाते हैं ।

उनसे तो गृहस्थी ही श्रेष्ठ है जो धीरे-धीरे अपने मन को वश में करने का प्रयत्न करता और ईश्वर-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है । गृहस्थाश्रम सबसे श्रेष्ठ आश्रम है, उसी आश्रम के आश्रय में अन्य तीनों आश्रम पलते हैं । परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि वह गृहस्थाश्रमी पुरुष अपने आश्रम धर्म का ठीक प्रकार से पालन करे । माता-पिता के प्रति श्रद्धा और सेवा-भाव, बन्धु-बांधवों के प्रति निश्फल प्रेम, पत्नी उत्कृष्ट और संयमित सहधर्म, पुत्रों के प्रति सरल स्नेह, मित्रों के प्रति निष्कपट सहृदता, भृत्यों और अन्य आश्रितों के प्रति पूर्ण कृपा-भाव तथा व्यवहारी-व्यवसाइयों आदि के प्रति व्यवहार कुशलता । इस प्रकार गृहस्थाश्रमियों के लिए जो-जो नियम आदर्श माने जाते हैं, उन-उन के अनुसार वर्तना ही गृहस्थ का वास्तविक कर्त्तव्य है ।

वत्स ! महाभारत में इस विषय में दो बड़ी आदर्श गाथाएँ मिलती हैं । उनमें से एक है पतिव्रत धर्म विषय में और दूसरी है गृहस्थाश्रम धर्म के विषय में । प्राचीन काल में एक वेदपाठी, सदाचारी ब्राह्मण थे । उनका नाम था कौशिक । एक दिन जब वे किसी वृक्ष के नीचे बैठ हुए वेदपाठ कर रहे थे, तभी उस वृद्ध पर बैठ हुए एक बगुले ने उन पर

बीट करदी । इससे ब्राह्मण ने क्रुद्ध होकर उसकी ओर ज्योंही देखा त्योंही वह बगुला भस्म होकर धरती पर आ गिरा ।

उस बगुले पर उन्हें बड़ी दया आई और अपने द्वारा किये जाने वाले क्रोध पर खेद और पश्चाताप भी होने लगा । इसके बाद वे भिक्षा माँगने के लिए बस्ती में गये और एक गृहस्थ घर पर खड़े होकर भिक्षा की याचना करने लगे ।

पतिव्रत धर्म की महिमा

गृह स्वामिनी बोली—'भगवान् जरा ठहरिये, भिक्षा देने का पात्र मांज लूँ तब आपको भिक्षा दूँ ।' यह कहकर वह पात्र को माँजने लगी, तभी उसके पति ने आकर कहा—'मैं बहुत भूखा हूँ, खाने को दो ।' पति को आया देखकर वह उसे भोजनादि परोसने में व्यस्त होगई । तभी उसे ध्यान आया कि द्वार पर ब्राह्मण खड़ा होगा और वह तुरन्त भिक्षान्न लेकर द्वार पर आई तो उसने देखा ब्राह्मण क्रुद्ध भाव से जाने के लिए तत्पर हैं । परन्तु उसे द्वार पर आयी देखकर बोले—'भद्रे ! यदि भिक्षा देने में अधिक विलम्ब था तो पहले ही विदा कर देना था, रोकना ठीक नहीं था ।'

उसने ब्राह्मण को शान्त करने की बहुत चेष्टा की, परन्तु उसका क्रोध बढ़ता ही गया । वे बोले—'क्या तुमने यह नहीं सुना कि क्रोधित हुआ ब्राह्मण समूची पृथिवी को भस्म करने में समर्थ है ।'

यह सुनकर गृह स्वामिनी ने कहा—'ब्रह्मन् ! मैं बगुला नहीं हूँ, जो आपके क्रोध से भस्म हो जाऊँगी । फिर भी मैं आप जैसे देवता-तुल्य ब्राह्मण का निरादर नहीं करती । आप क्रोध को शान्त करें भिक्षा ग्रहण करने की कृपा कीजिए ।'

उसके वचनों से ब्राह्मण को कुछ आश्चर्य हुआ और साथ ही उनका क्रोध भी शान्त होने लगा । तभी उस महिला ने पुनः कहा—'भगवन् !

मैं पति-सेवा को ही अपना पर्वोपरि धर्म और प्रथम कर्त्तव्य मानती हूँ। उसी में लगने के कारण मुझ से यह भूल हो गई। वैसे आप भी धर्मात्मा स्वाध्याय-निरत, पवित्र, मन और निरभिमान हैं, परन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि अभी आपको धर्म के तत्व का ज्ञान नहीं हुआ है। इस लिए आप मिथिलापुरी निवासी धर्म व्याध के पास जाकर उसे पूछिये।

महिला की बातों ने कौशिक ब्राह्मण की आँखें खोलदीं। उन्होंने उसे धन्यवाद दिया और भिक्षा लेकर चल दिये। तदनन्तर उन्होंने अपने कार्य पर विचार किया और स्वय को अपराधी मानकर धर्म व्याध से धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के विचार से मिथिलापुरी को चल दिये।

धर्मव्याध का कुलोचित धर्म-पालन

मिथिलापुरी पहुँचकर उन्होंने धर्म व्याध का पता पूछा और वे उसके स्थान पर जा पहुँचे। परन्तु वहाँ जाकर देखते हैं कि धर्मव्याध नामक वह व्यक्ति पशुओं का मांस बेचने में लगा है। अब तो असमंजस में पड़े हुए कौशिक एक ओर खड़े हो गए, परन्तु मन हुआ कि तुरन्त वहां से भाग चलें।

तभी उन्होंने सुना, धर्मव्याध कह रहा था—'ब्रह्मन् ! पधारिये आपका स्वागत है। कहिये। आप कुशल से तो हैं ? मुझ धर्मव्याध का प्रणाम स्वीकार कीजिए। आप उस पतिव्रता के कहने से धर्म-लाभ के निमित्त यहां पधारे हैं, यह मैं जानता हूँ। अब, आप कृपया मेरे घर चलने का कष्ट करें।'

धर्मव्याध के वचनों ने कौशिक को आश्चर्य चकित कर दिया और वे तुरन्त उसके घर जाने को तैयार हो गए। उसका घर बड़ा सुन्दर, मनोरम था। व्याध ने उन्हें आसन, पाद्य, अर्घ्य आदि दिया जिसे ग्रहण करते हुए कौशिक बोले—'भाई ! मांस बेचने के तुम्हारे कार्य से मुझे

बड़ा खेद होता है और मैं इतना ही कहना उचित समझता हूँ कि यह कार्य तुम्हारे जैसे धर्मात्मा पुरुष के योग्य नहीं है।'

व्याध ने कहा—'भगवन्! यह कार्य मेरे पुरखों से होता चला आ रहा है और यही मेरी जीविका का साधन हैं। मैं अपने कुलोचित धर्म के पालन में तत्पर रहकर वृद्ध माता-पिता की सेवा में लगा रहता हूँ। मुझसे जो कुछ बनता है, दान देता और सत्य बोलने का प्रयत्न करता हूँ। देवता, अतिथि और सभी आश्रितों को खिलाकर ही भोजन करता हूँ। शूद्र का कर्म सेवा, वैश्य का खेती क्षत्रिय का युद्ध और ब्राह्मण ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र-जप और सत्याचरण है।'

शिष्टाचार के पाँच साधन

कौशिक ने प्रश्न किया—'शिष्टाचार क्या है, इस विषय में मुझे बताने की कृपा कीजिए।'

व्याध बोला–'शिष्टाचार के पाँच पवित्र साधन हैं—यज्ञ, दान, तप, वेद और सत्य। शिष्ट मनुष्य सदा काम, क्रोध, दम्भ, लोभ और क्रूरता का त्याग करके अपने ही धर्म के पालन में सदा सन्तुष्ट रहते हैं। भगवन्! यद्यपि यह मांस बेचने का व्यवसाय वास्तव में घोर कर्म ही है, परन्तु जब, जिसकी मृत्यु होनी है, मरना ही होगा। बिना मृत्यु के न कोई किसी को मार सकता है, न कोई मरता ही है। इस पर भी मैं जिन पशुओं का मांस बेचता हूँ, उनकी आय देव, पितर, ब्राह्मण, अतिथि आदि के पूजन में और बन्धु बान्धव, भृत्य आदि के भोजनादि में लगने से धर्म का अंश प्राप्त होता है। फिर शास्त्रों का यह भी निर्देश है कि अपने व्यवसाय का करना ही धर्म है। भगवद्‌गीता (३।३५) में भगवान् कृष्ण स्वय कहते हैं—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
त्वधर्मे निधन श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अर्थात्—भले प्रकार आचरण किए हुए दुसरे के धर्म से यदि अपना

धर्म गुण-रहित भी हो तो भी उत्तम है। क्योंकि अपने ही धर्म में मरना भी कल्याणकारी है और पराया धर्म भय का देने वाला है।

इस प्रकार अपने कुल परम्परा से प्राप्त व्यवसाय का त्याग कर देना अधर्म और उसे करते रहना धर्म है। यद्यपि आचार्यों ने अहिंसा की बड़ी प्रशंसा की है, फिर भी हिंसा से बचा हुआ कोई भी दिखाई नहीं देता। जब मनुष्य चलते-फिरते हैं तब पाँवों के नीचे दबकर न जानें कितने जीव मर जाते हैं। ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता पुरुषों से भी सोते-जागते में अनेक जीवों की हत्या हो जाती है। अहिंसा व्रत को धारण करने वाले योगी-यतियों के द्वारा भी हिंसा हो ही जाती है, परन्तु वह हिंसा उनके सावधान रहने पर भी अनजाने में ही होती है, इसलिए वे उस हिंसा-दोष के भागी नहीं होते।'

कौशिक ने प्रश्न किया—'धर्मज्ञ ! इस धर्म-ज्ञान की सिद्धि तुम्हें किस प्रकार हुई है ? इस पर वह बोला—'ब्रह्मन् ! जिस धर्म के प्रभाव से मुझे यह सिद्धि प्राप्त हुई है, उसे घर के भीतर चलकर स्वयं देख लीजिये।'

माता-पिता की सेवा से सर्व प्राप्ति

यह कहकर वह उन्हें घर के भीतरी भाग में ले गया। वह भाग देव-मन्दिर के समान स्वच्छ, सुसज्जित और आकर्षक था। उसमें सब ओर सुगन्ध फैली थी और एक श्रेष्ठ आसन पर धर्मव्याध के माता-पिता भोजनादि से तृप्त हुए प्रसन्न मुद्रा में बैठे थे। उन्हें देखते ही व्याध ने उनके चरणों में शिर रख दिया।

उसके माता-पिता बोले—'उठो बेटे ! तुम बड़े धर्मज्ञ हो, वह धर्म ही सदा तुम्हारी रक्षा करे। तुम बड़े सुपुत्र हो, हमारी सेवा-सत्कार में सदा लगे रहते और देवताओं के समान पूजते हो।'

धर्मव्याध ने कौशिक के विषय में उन्हें बताया तो उन्होंने आनन्दित होकर उस ब्राह्मणदेव का स्वागत-सत्कार किया। तभी धर्मव्याध ने

कौशिक से कहा—'ब्रह्मन् ! यह माता-पिता ही मेरे परम देवता हैं। देवताओं के लिए जिस पूजनादि का विधान है, वह सब मैं इन्हीं के प्रति करता हूँ ! इसका अभिप्राय यह है कि माता-पिता ही मेरे सब कुछ हैं। कल्याण की इच्छा वाले गृहस्थाश्रमी पुरुषों का यही कर्त्तव्य है कि वे माता-पिता की सदा सेवा करते रहें। इस सेवा का फल भी महान् होता है। आपको उस पतिव्रता ने मेरे पास भेजा, उस वृत्तान्त को मैंने माता-पिता की सेवा रूप तपस्या के बल से प्राप्त दिव्य दृष्टि से जान लिया था।'

यह कहकर व्याध चुप होगया और कुछ क्षण बाद पुनः कहने लगा—'भगवन् ! अब अपने कल्याण की बात सुनिये। आपने अपने माता-पिता की सेवा नहीं की और उनका तिरस्कार करके वेदाध्ययन के लिए घर से निकल पड़े। आपका यह कार्य धर्मानुकूल नहीं है। वे रो-रोकर आँखें गँवा बैठे हैं, इसलिए आप शीघ्र ही उनके पास जाकर उन्हें प्रसन्न कीजिए।'

कौशिक ने कहा—'पुरुष श्रेष्ठ ! तुम धन्य हो। यह मेरा सौभाग्य ही है कि यहाँ आकर तुम्हारे दर्शन कर सका। तुमने अपने सदुपदेश से मुझे उबार लिया है।' यह कहकर कौशिक ब्राह्मण अपने घर के लिए चल पड़े।

महाभारत का यह प्रसंग सुनाने के पश्चात् महात्माजी ने कहा—इस प्रकार वह नीच जाति में उत्पन्न धर्म व्याध गृहस्थाश्रम में रहकर भी उसी पुण्य फल का भागी था, जिसका भागी संन्यासाश्रम में स्थित संन्यासी हो सकता है। इसलिए श्रेष्ठ कर्मों में तत्पर और अपने धर्म-पालन में लगे हुए पुरुष को घर छोड़ने की आवश्यकता नहीं होती।'

सिद्धि का एक मात्र रहस्य गायत्री साधना

तभी उनसे प्रश्न किया गया—'महाराज ! आप तो बड़े विद्वान् और सिद्ध पुरुष हैं, यदि अनुचित न हो तो अपनी सिद्धि का रहस्य बताने की कृपा कीजिए।'

महात्माजी बोले—'वत्स ! धर्म ग्रन्थों और शास्त्रों में सिद्धि के अनेक साधनों का वर्णन मिलता है। परन्तु आचार्यों की मान्यता है कि गायत्री उन सबमें श्रेष्ठ साधन है। मैं भी उसी की उपासना में लगा रहता हूँ।'

उनसे पूछा गया—'उस उपासना से आपको क्या-क्या लाभ हुए ?' तो वे बोले—'मन में एकाग्रता उत्पन्न हुई इन्द्रिय-संयम की प्रवृत्ति बढ़ी और ईश्वर के साक्षात्कार की इच्छा जाग्रत् हो गई। उसी के प्रभाव से मैं भूख-प्यास को जीतने में भी सफल होगया हूँ। गंगा के पवित्र जल में तीन बार स्नान करना मैंने अपना नित्य नियम बना लिया है। चित्त में सदैव अहिंसा और लोक-कल्याण के भाव जाग्रत् रहते हैं। परन्तु किसी भी सिद्धि को मैं आत्मोत्थान के मार्ग में व्यवधान मानता हूँ, इसलिए उसकी आकांक्षा न करता हुआ ही गायत्री जप-परायण रहता हूँ।'

यह कहकर उन्होंने अपने साथ चलने का संकेत किया और कुछ आगे बढ़कर ही दूर पर जलते हुए दीपक को दिखाकर बोले—'वही स्वर्गाश्रम है, यह पगदण्डी सीधी वहीं गई है। मार्ग में कोई भय नहीं, और न कुछ दूरी ही है।' यह सुनकर जैसे ही उस दीपक की ओर देखकर आगे बढ़ने का उपक्रम करने लगे कि तभी महात्माजी न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गए। यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ।

एक परिव्राजकाचार्यजी का अनुभव

मोक्ष का श्रेष्ठ उपाय गायत्री ही है - ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। एक परिब्राजकाचार्य ने इस पर अपने अनुभव बताते हुए कहा कि 'मैंने अनेक प्रकार की साधनाएँ की हैं। देवी-देवताओं से लेकर निर्गुण ब्रह्म तक की। योग-क्रियाएँ, व्रतोपवास, मूर्ति-पूजन आदि कोई भी विधि अपनी जानकारी में मैंने नहीं छोड़ी। परन्तु, उनमें से कोई भी साधन

ठीक प्रकार से नहीं बन सका। सभी में कुछ व्यवधान उपस्थित हो जाता बहुत दिन उन्हें करने क बाद छोड़ दिया और फिर किसी में भी मन नहीं लगने लगा। इससे पूरी तरह निराश हो गया।

फिर, सौभाग्यवश एक दिन एक सद्गुरु मिल गए। वे पहुँचे हुए सन्त थे। गायत्री-साधना के प्रभाव से उन्होंने अनेकों सिद्धियाँ अपने वश में कर रखी थीं। उनके दर्शन करने में कृतार्थ हो गया। वे भी अपनी कृपामयी दृष्टि से मुझे देखने लगे।

मैंने उनके चरण पकड़ लिए। वे बोले—'वत्स! संयत चित्त से आसन पर बैठ और यह बता कि तू क्या चाहता है? मैं उनके आदेशा-नुसार आसन पर बैठकर अपनी साधनाओं का वृतान्त सुनाने लगा। जब सब कुछ कह चुका, तब वे कहने लगे—'तू तो व्यर्थ के व्यामोह में भटकता फिरा है वत्स! यदि एक को पकड़ रहता तो, कुछ न कुछ सफलता अवश्य मिलती। क्योंकि 'एकै साधै सधै, सब साधे पत जाय।' इसे भी करलूँ, उसे भी करलूँ, ऐसे चित्त को डाँवाडोल रखने से साधा हुआ भी नष्ट हो जाता है।'

मैं बोला—'तो अब आप एक ही किसी साधना का उपदेश करने की कृपा करदें।' यह सुनकर उन्होंने कहा—'अच्छा, तू गायत्री का जप किया कर, उसके प्रभाव से तुझे अवश्य ही इच्छित सिद्धि की प्राप्ति हो जायगी।'

गायत्री के प्रति मेरी कुछ शंकाएँ पहले से ही थीं। इसलिए मैंने निवेदन किया—'भगवन्! गायत्री-साधना तो बहुत कठिन है, उसे हर कोई नहीं कर सकता। फिर आप मेरे जैसे असमर्थ व्यक्ति के लिए उसका उपदेश क्यों करते हैं?'

मेरी बात सुनकर वे कुछ देर मौन रहे और फिर धीरे से कहने लगे—'यह बात सत्य नहीं है सौम्य! क्योंकि गायत्री और उससे सम्बन्धित उपासना पर प्रातः सभी विद्वान् अपना-अपना अनुकूल मत व्यक्त करते

रहे हैं। यद्यपि कुछ लोग गायत्री की सिद्धि को बहुत कठिन मानते हुए उसे कुछ तपस्वी और विद्वान् साधकों तक सीमित मानते हैं। परन्तु, यह उनका भ्रम मात्र है। वे नहीं जानते कि गायत्री का जप आदि करना कुछ कठिन कार्य नहीं है और वस्तुतः कठिनाई तो सभी प्रकार के साधनों, पूजनों, उपासनाओं, तपस्याओं, योग क्रियाओं आदि में प्रतीत होती है। सबसे सरल भक्तिमार्ग माना गया है, परन्तु वह भी बिना अनुकूल आचरण और उचित साधन के सफलता प्राप्त नहीं करा सकता।

उपासना का कोई मार्ग कष्ट-रहित नहीं

कोई कहे कि भक्ति में कष्ट नहीं होता तो यह कथन ठीक नहीं है। सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख तो सभी को सहन करने होते हैं। भक्त को भी सुख-दुःख में समान भावना करनी होती है, तभी उसे सफलता मिल पाती है। गीता (२।१५) के अनुसार—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
सम दुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाम कल्पते॥

अर्थात्—हे पुरुष श्रेष्ठ (अर्जुन)! इन्द्रियों के यह विषय दुःख और सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को व्याकुल नहीं कर सकते, वही मोक्ष-प्राप्ति के योग्य होता है।

कष्ट तो भोजन बनाने, परोसने और यहाँ तक कि खाने में भी होता है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, बोलना आदि ऐसा कौन-सा कार्य है, जिसमें कष्ट न होता हो। परन्तु उस कष्ट में जो परिश्रम निहित है, वह स्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है। आलस्य में पड़े रहो और कुछ भी कार्य न करो यह काया शीघ्र ही निकम्मी होकर मृत्यु-मुख की ओर जाने लगती है।

शरीर का धर्म है सुख-दुःख सहन करना, क्योंकि सुख और दुःख दोनों का जोड़ा है। ऐसा कौन-सा जीव है जो केवल सुखी ही हो अथवा

दुःखी ही हो। परन्तु, जो लोग सुख में हँसते और दुःख में रोने लगते हैं, वे अवश्य ही मूर्ख और कायर होते हैं। इसीलिए तो सभी महापुरुष सुख और दुःख दोनों में समभाव रखने का उपदेश करते हैं। उस उपदेश को जो मान लेता है, वह संसार से तरने में सफल हो जाता है और जो उसे न मानकर व्यामोह में पड़ा रहता है, वह कर्मों के बन्धन में बँधकर आवागमन के चक्र से नहीं छूट पाता।

इसलिए सुख-दुःख को शरीर का धर्म मानकर उनकी प्राप्ति को हर्ष-शोक का विषय मत बनाओ। दोनों को अपने कर्मों के फल स्वरूप एवं ईश्वरेच्छा से प्राप्त समझकर वर्णन करो। इससे तुम्हारी आत्मोन्नति होगी और अन्त में मोक्ष भी प्राप्त हो सकेगी।

भक्ति ज्ञान और योग की अभिन्नता

सद्गुरु उक्त प्रकार से कहकर चुप हुए तो मैंने उनसे निवेदन किया 'भगवन् ! कोई भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं तो कोई ज्ञान को, और कोई योग को ही श्रेयस्कर बताते हैं। आपके मत में इनमें से कौन-सी प्रक्रिया ऐसी है जो सरल हो और कल्याणकारी भी।

उन्होंने कहा—'भक्ति, ज्ञान अथवा योग, यह तीनों एक दूसरे के पर्याय समझो। क्योंकि इनमें से एक के बिना दूसरे का उदय होना सम्भव नहीं होता। देखो, योग का अर्थ है जुड़ना या लगना भक्ति में लगकर अपने चित्त को परमात्मा में लगाने का प्रयत्न करोगे तो वह भक्ति-योग होगा। ज्ञान की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किया जायगा उसमें मन और भक्ति का योग होने से उसे ज्ञानयोग कहेंगे और योग एक पृथक् अस्तित्व वाली क्रिया को भी कहते हैं। परन्तु, उसका साधन भी मन के योग बिना नहीं हो पाता।'

योग का अभिप्राय कर्म में योजित होना

मैं उनकी बात ठीक प्रकार से समझ न सका, इसलिए पुनः पूछ

बैठा—'तो योग क्या है, भगवन् ! पहले मुझे योग के विषय में ही बताने की कृपा कीजिए।'

वे बोले—संसारभर की किसी भी क्रिया में लगना योग है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अठारह प्रकार के योगों का वर्णन किया है, जैसे—विषाद योग, सांख्य योग, कर्म योग, ज्ञानकर्म संन्यास योग कर्मसंन्यास योग, आत्मसंयम योग, ज्ञानविज्ञान योग, अक्षरब्रह्म योग, राजगुह्य योग, विभूति योग, विश्वरूपदर्शन योग, भक्तियोग, क्षेत्रक्षेत्र विभाग योग, गुणत्रय विभाग योग, पुरुषोत्तम योग, दैवासुर सम्पद्विभाग योग, श्रद्धात्रय विभाग योग, और मोक्ष-संन्यासयोग। यह सभी नाम विषयानुरूप वर्णन होने से योगसंज्ञक होगए हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि किसी भी कर्म में चित्त का लगा लेना योग ही है। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता (६।४६) में अर्जुन को योगी बनने की आज्ञा दी है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽप मतोऽधिकः।
कर्मभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुं ॥

अर्थात्—योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा योगी (सकाम) कर्म करने वालों से भी श्रेष्ठ है इसलिए हे अर्जुन ! तू योगी हो।

इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को योगी बनने का तो उपदेश दिया परन्तु उपर्युक्त अठारह प्रकार के योगों में से किसी भी योग को अपनाने का आदेश नहीं दिया। उन्होंने तो स्पष्ट कह दिया कि जिसके मन में मेरे प्रति श्रद्धा हो वही योग कर सकता है और तू वैसा ही योगकर। गीता—(६।४७) के अनुसार—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

अर्थात्—सभी योगियों में जो योगी श्रद्धावान् होकर मुझ में लगे हुए अन्तरात्मा से मुझे निरन्तर भजता है, उसी योगी को मैं परमश्रेष्ठ मानता हूँ।

इस प्रकार भगवान् में श्रद्धा रखकर उनकी प्राप्ति में चित्त लगाना ही योग है। वह चाहे जिस विधि से लगा लिया जाय, वह सब विधियां योग ही मानी जांयगी। अब यह साधक की इच्छा पर निर्भर है कि वह किसी देवता को इष्ट मानकर पूजा-पाठ करे या भजन, जप, तप, यज्ञ आदि किसी विधि का आश्रय ले क्योंकि किसी भी देवता का पूजन केवल उस ईश्वर को ही प्राप्त होता है, उसी प्रकार जिस प्रकार कि सभी नदियों का जल एक समुद्र में ही जा पहुँचता हैं।

गायत्री-योग को श्रेष्ठता

समझता हूँ तेरे लिए गायत्री-योग सबसे श्रेष्ठ साधन रहेगा। सरल भी और सबसे अधिक प्रभावकारी भी। इससे बढ़कर उपयोगी कोई अन्य साधन मुझे आज तक दिखाई न दिया। इसलिए मैं तो सदा इसी के परायण रहता हूँ। गरुड़पुराण में इसके माहात्म्य का स्पष्ट निर्देश किया गया है। यथा—

गायत्री परमा देवी भुक्तिमुक्तिप्रदा च ताम्।
यो जपेत्तस्य पापानि विनश्यान्यि महान्त्यपि ॥

अर्थात्—गायत्री सब में परम (उच्च) देवी है, यह सभी सांसारिक भोगों को प्रदान करके साधक को अन्त में मोक्ष देती है। जो पुरुष उनका जप करता है, उसने कितने भी घोर पाप क्यों न किये हुए हों सभी पापों को वह जप सर्वथा विनष्ट कर देता है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र के जप मात्र से संसार के और परलोक के सभी ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। अब यह साधक के ऊपर निर्भर है कि वह नित्य प्रति कितनी संख्या में जप करता है। जितना अधिक करेगा उतना ही अधिक और शीघ्र फल प्राप्त कर लेगा।

गायत्री-साधना से विभिन्न परिवर्तन

'सद्गुरु के उक्त आदेश को मैंने हृदयं गम कर लिया और तभी से गायत्री मन्त्र के जप में लग गया। धीरे-धीरे मुझे अपने में जो परिवर्तन प्रतीत होने लगे, वे मुझे आश्चर्य चकित करने लगे।' यह कहकर परिव्राजकाचार्यजी चुप हो गए।

उनसे प्रश्न हुआ कि 'आपको किन-किन परिवर्तनों की प्रतीति हुई? वे बोले-साधना में चित्त लगने लगा, वासना का विकार दूर होने लगा, मन में एक प्रकार अद्भुत शान्ति स्थापित होने लगी और परमात्मा की सत्ता में विश्वास जमने लगा। फल यह हुआ कि अब ईश्वर की चर्चा के अतिरिक्त कुछ भी अच्छा नहीं लगता। यदि कोई आकर वार्तालाप करने लगता है तो इच्छा यह होती है कि वह शीघ्रातिशीघ्र चला जाय।

उन्हें चुप होते देखकर पूछा गया कि 'भगवन! उक्त परिवर्ननों के अतिरिक्त भी किन्ही अन्य परिवर्तनों का आपको अनुभव हुआ?' इसपर उन्होंने कहा—शरीर में हल्कापन आगया, भूख-प्यास कम हो गई और जाने अनजाने में भी जिह्वा से गायत्री मन्त्र निकलने लगा। बस इससे अधिक और कुछ भी कहने में मैंशक्य नहीं हूँ। अब मुझे अपना जप करने दो।' इस प्रकार वह वार्तालाप वहीं समाप्त हो गया।

गायत्री स्वर लहरी में अगजग की निस्तब्धता

एक गायत्री-साधक जब गायत्री मन्त्र का पाठ करते तब श्रोता स्तब्ध रह जाते थे उनकी स्वर लहरी में दिव्यता थी, जो उसे वहाँ के वातावरण को उद्वेलित कर आनन्दमय बना देती थी। उसका प्रभाव सभी जीवों पर पड़ता था, यहाँ तक कि ऐसा लगता था कि वृक्ष भी मानों नत मस्तक होकर खड़े रहते हों।

वे गायत्री-मन्त्र के एक-एक अक्षर की वीणा के तारों पर तौलते हुए प्रतीत होते। संगीत के स्वर जब गूँजते, तब सर्वत्र अप्रत्याशित रूप से मौन छा जाता। सभी प्राणी उन स्वरों के प्रभाव में आनन्दविभोर हो जाते। उस समय सभी को लगता कि उनका चित्त बाह्य विषयों से हटकर संगीत की तरंगों में ही निमग्न हो रहा है। वे खुले नेत्रों से भी यह देखने में समर्थ न होते कि सामने कौन-सा दृश्य उपस्थित है।

उनकी साधना अभूतपूर्व थी। एक बार उससे बातें करने का अवसर मिलने पर प्रथम तथ्य तो यह ज्ञात हुआ कि वे मितभाषी थे। चाहते थे कि किसी से मतलब की ही बात की जाय, इसलिए प्रयत्न यह करते कि 'हां' या 'न' में उत्तर देकर ही टाल दिया जाय।

मन्त्रगान में साधक की मन्त्रमयता

दूसरी बात यह विदित हुई कि मन्त्र-गान के समय वे स्वयं भी मन्त्रमय हो जाते थे। उन्हें उस मन्त्र के अक्षरार्थ के अतिरिक्त अन्य कुछ भी ध्यान नहीं रहता था और उनकी इन्द्रियां प्रत्याहरित (अन्तर्मुखी) हो जाती थीं। अभिप्राय यह है कि मन्त्रगान के समय उन्हें मन्त्रार्थ दिखाई देता था। वाणी तो मन्त्रोच्चार मैं रहती ही थी, नेत्र भी उन्हीं अक्षर रूप अर्थ में स्थिर रहते थे। श्रोत्र मन्त्रार्थ और वीणा के स्वर दोनों से समन्वित होकर केवल मन्त्रगान के सुनने में ही तन्मय हो जाते थे।

तीसरी बात यह है कि वे बड़े सन्तोषी पुरुष थे। जीविका के लिए अधिक भाग दौड़ न करते। अनायास जो भी मिल जाता उसी में सन्तोषकर लेते। न कुछ संचय की इच्छा रहती और न अधिक लोभ मोह में फँसते। फिर भी उन्हें किसी भी प्रकार का अभाव कभी नहीं खटका। सभी कार्य स्वतः बनते रहे।

चौथी बात यह थी कि शरीर शुद्धि की ओर बहुत ध्यान देते । शौच जाये तो स्नान अवश्य करते । पूजा-पाठ, भजन आदि में भी बहुत समय लगाते और भोजन में सात्विक आहार का उपयोग करते और मिताहारी रहते थे ।

इस प्रकार उनके द्वारा योग के अंगभूत यम नियमों का पालन बड़ी सतर्कता से किया जाजा था । जब वे स्वर-साधना में लगते तब उन्हें अन्य कोई विषय रुचिकर न होता था । उनके अनुसार—'स्वर ब्रह्म है, इसकी साधना करता हुआ साधक जब ब्रह्म से एक्य स्थापित करने में सफल हो जाता है, तब उसके लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता । इस प्रकार स्वर-साधना आत्मा और परमात्मा के मध्य एकीभाव उत्पन्न करने में सशक्त उपाय है । जो लोग स्वरब्रह्म का आश्रय लेते हैं, वे संसार सागर से शीघ्र ही पार हो जाते हैं ।

परन्तु गायत्री-मन्त्र के साथ स्वर साधना का दुगना महत्व है । इसमें गायत्री और स्वर दोनों ही शक्तियाँ केन्द्रीभूत हो जाती हैं, तब स्वर साधक यह सहज ही अनुभव करने लगता है कि वह दिव्य उपलब्धियों की ओर बढ़ रहा है ।

गायत्री साधना से मृत्युभय का नाश

गायत्री विद्या के एक प्रकाण्ड विद्वान् ने अपने अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि गायत्री के द्वारा मृत्यु-भय से बचा जा सकता है । क्योंकि यह मन्त्र सभी दिशाओं में रक्षा करने वाला है । उन्होंने गायत्री-पंजर स्रोत का उद्धरण देते हुऐ कहा —

त्रिपदा ऋङ्मयी पूर्वामुखी ब्रह्मास्त्र संज्ञिका ।
चतुर्विंशतितत्वाख्या पातु प्राचीं दिशं मम ।। १
चतुष्पाद यजुर्ब्रह्मदण्डया पातु दक्षिणाम् ।
षट्त्रिंशत्तत्वयुक्ता सा पातु मे दक्षिणां दिशम् ।। २

प्रत्यंमुखी पंचपदी पंचाशत्तत्व रूपिणीम् ।
पातु प्रतीचीमनिशं सामब्रह्मशिरोंऽकिता ।। ३
सौम्या ब्रह्मस्वरूपाख्या साथर्वांगिरसात्मिका ।
उदीचीं षट्पदा पातु चतुष्षष्टि कलात्मिका ।। ४
विद्युन्निभा ब्रह्मसंज्ञा मृगारूढ़ा चतुर्भुजा ।
चापेषु चर्माऽसिधरा पातु मे पावकीं दिशम् ।। ५
ब्राह्मी कुमारी गायत्री रक्तांगी हंसवाहिनी ।
विभ्रत्कमण्डलवक्षस्रक स्त्रुवान मे पातु नर्ऋतीम् ।। ६
चतुर्भुजा वेदमाता शुल्कांगी वृषवाहिनी ।
वराभय कपालाक्ष स्रग्विणी पातु वारुणीम् ।। ७
श्यामा सरस्वती वृद्धा वैष्णवी गरुडासना ।
शंखाराब्जा भयकरा पातु शैवी दिशं मम ।। ८
पचाशत्तत्वरचियता भावपादा शताक्षरी ।
व्योमाख्या पातु मे चोर्ध्वां दिशं वेदांग संस्थिता ।। ९
चातुर्भुजा वेदमाता गौरांगी सिंहवाहना ।
वराऽभयाब्ज युगलैभुर्जः पात्त्रधरां दिशम् ।। १०
तत्तत्पार्श्वस्थिताः स्वस्ववाहनायुध भूषणाः ।
स्वस्व दिक्षु स्थिताः पान्तु ग्रहशत्यंग देवताः ।। ११

अर्थात्—पूर्वाभिमुखी, त्रिपाद ऋचामयी, ऋग्वेदरूपा, चौबीस तत्वों से युक्त, ब्रह्मास्त्र संज्ञिका देवी गायत्री पूर्व दिशा में हमारी रक्षा करे। चारपाद वाली, दक्षिणाभिमुखी, यजुर्वेदरूपा, छत्तीस तत्वों समन्वित, ब्रह्मदण्डा नाम वाली देवी दक्षिणी दिशा में हमारी रक्षा करें। पश्चिभागिमुखी, पंचपादी, पचास तत्वों से समन्वित, सामवेद स्वरूपा एव ब्रह्मशिर संजिका भगवती पश्चिम दिशा में हमारी रक्षा करें। सौम्या, ब्रह्मरूपाख्या, चौंसठ कलाओं से युक्त, अन्यन्त सुन्दर अथर्वांगिरस स्वरूपा, उत्तर की ओर मुख और छः पादों वाली देवी उत्तर दिशा में

हमारी रक्षा करें। मृग पर सावारी करने वाली, विद्युत के समान देवीप्यमान, चार भुजाओं में ढाल, तलवार, धनुष्य, बाणको धारण करने वाली ब्रह्मसंज्ञिका गायत्री आग्नेय कोण में हमारी रक्षा करें। हंस के ऊपर विराजमान, रक्तवर्णा, कुमार्यावस्था से सम्पन्न ब्रह्मशक्तिरूपाभगवतीगायत्री नैऋत्य कोण में हमारी रक्षा करें। बैल पर आरूढ़, शुक्लवर्णा, वर, अभय, कपाल और अक्षमाल धारिणी, चतुर्भुजा वेदमाता गायत्री हमारी वारुणी कोण में रक्षा करें। सभी शक्तियों में परम श्रेष्ठ श्यामा, सरस्वती संज्ञिका, गरुड़ पर आरुढ़ होने वाली, कमल, शंख, तलवार और मुद्रा से युक्त वैष्णवी शक्ति स्वरूपा गायत्री ईशान कोण में हमारी रक्षा करें। पचास तत्वों से युक्त, ग्यारह चरणों से समन्वित, वेदांगों में निवास करने बाली, शताक्षरी, व्योमाख्या देवी ऊर्ध्व दिशा में हमारी रक्षा करें! चार भुजाओं वाली, सिंहवाहिनी, गौरवर्णा, वेदमाता गायत्री जिनके हाथों में कमलों का जोड़ा वर और अभयमुद्रा स्थित है, वे देवी नीचे (पाताल) की ओर हमारी रक्षा करें। अपनी अपनी दिशाओ में स्वामित्री रूप से विराजमान वहाँ की शक्तियाँ अपने-अपने प्रत्यधि देवता के सहित एवं सकीय वाहन, भूषण और आयुधों सेसुसाज्जित होकर उन-उन दिशाओं में हमारी रक्षा करें।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र के सम्पुट से दिशाओं सम्बन्धी मन्त्र पढ़ते हुए रक्षा-कामना करने से साधक को मृत्यु का भय कभी नहीं रहता। आक्रामक शत्रु, दुष्ट दस्यु और हिसक जीव कभी पास नहीं फटकते। जिस घर में इस रक्षा-स्तोत्र का पाठ होता है, उसमें सर्पादि विषैले जीवों का प्रवेश नहीं होता यदि घर में सर्प. विच्छू आदि होते हैं तो रक्षा-स्त्रोत्र के शब्द सुनते ही भाग जाते हैं। कभी कोई ऐसे साधक का अनिष्ट करना चाहे तो वह अपने अभीष्ट मे सफल नहीं होता, वरन् उल्टे उसी का अनिष्ट होने लगता है। इसके उच्चारण से बालकों की भूत-बाधा एवं ग्रहदोष आदि शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। घर में धन-धान्य की वृद्धि होती और सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है।

उक्त रक्षा-स्तोत्र से गायत्री से सम्बन्धित होने केकारण गायत्री योग के अन्तर्गत ही आता है। धैर्य-पूर्वक साधना करने से यह शीघ्र सिद्ध हो जाता है। जो लोग इसका पठन पाठन अध्ययन आदि में लगे रहते हैं उनकी सभी इहलौकिक कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

उक्त स्तोत्र पारलौकिक सुखों की प्राप्ति में भी अत्यन्त सहायक होता है। गायत्री के आश्रम के साधक इच्छित मोक्ष अर्थात् सद्‌गति को प्राप्त होता है। इस प्रकार सर्व कामना सिद्धि के उद्‌देयार्श्थ इसका अनुष्ठान करना चाहिए।

———

विभिन्न रूपों और सामर्थ्यों से सम्पन्न

सर्व देवात्मिका गायत्री

हमारे ऋषि-महार्षियों ने गायत्री मन्त्र को सर्वोपरि माना है। वेद शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि सभी ग्रन्थ इसके सामर्थ्य का यथार्थ वर्णन करते हैं। उनके अनुसार गायत्री की उपासना से सभी कामनाएं पूर्ण हो सकती है।

नृसिह गायत्री

नृसिहपूर्वतापिन्युपानिषद्‌ में गायत्री को अष्टाक्षरी मन्त्र बताते हुए 'अथ सावित्री गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तथा सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षर सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्रस्यष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य ऐवं वेद श्रिया

हैवाभिषिच्यते तदेदहृचाभ्युक्तं ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि-विश्वे निषेदुः इत्यादि है कहा है कि 'यह सावित्री मन्त्र गायत्री छन्द से युक्त होकर यजुर्मन्त्र के रूप में प्रकट हुआ है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी से व्याप्त है। अष्टाक्षरी हाने से इसे गायत्री कहते हैं। इसमें 'घृणिः' और 'सूर्य' के दो-दो अक्षर हैं और आदित्य के तीन अक्षर हैं। आरम्भ अष्टाक्षरी कहलाता है। इस मन्त्र का ज्ञाता ज्ञानी पुरुष लक्ष्मी के द्वारा अलकृत होता है। ऐसा दृष्टान्त भी है कि ऋग्वेद की ऋचाएँ परम व्योम रूप अविनाशी एवं प्रकाशमान ब्रह्म से युक्त हैं, वहीं सब देवताओं का निवास है जो साधक उन स्वयं तेजस्वी ब्रह्म को नहीं जानता उसे स्वाध्याय से क्या लाभ हो सकता है? जो ज्ञानी उस ब्रह्म के जानने वाले हैं, वे परमधाम में आन्दोपभोग करते हुए निवास करते हैं। इस सावित्री मन्त्र के इस प्रकार जानने वाले को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद के तन्त्रों से भी कोई कार्य नहीं रहता।

अभिप्राय यह है कि गायत्री मन्त्र में ऋक, साम और यजुः तीनों वेदों के सभी मन्त्रों का समावेश है। जो लोग गायत्री मन्त्र के अर्थ को जान लेते हैं, उन्होंने सभी कुछ जान लिया समझो। इसलिए ज्ञानी जन गायत्री मन्त्र को वेदमाता कह कर उसका यशोगान करते और उसके अतिरिक्त अन्य किसी का आश्रय नहीं लेते हैं।

'ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नोमहालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषां वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विशण्यक्षरःभवित' इत्यादि से आगे कहा कि जो देवी भूलोक की लक्ष्मी है भुवर्लोक की लक्ष्मी है, स्वर्ग लोक की लक्ष्मी है, जिसका नाम कलाकर्णी है, वह महालक्ष्मी हमें श्रेष्ठ कर्मों में प्रेरित करे। यह यजुर्वेदोक्त महालक्ष्मी की गायत्री चौबीस अक्षर वाली है। यह समस्त दृश्यमान जगत् गायत्री रूप ही है इसीलिए जो गायत्री का ज्ञाता है, वह महान ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

हम भगवान् नृसिंह की प्रीति के लिए उपासना करते हैं। वज्र रूप नखों वाले उन परमात्मा का ही हम चिन्तन करते हैं। वे नृसिंह भगवान् ही हमें सत्कर्मों की प्रेरणा दें। यह नृसिंह गायत्री देवताओं और वेदों की भी कारणभूता है। इस प्रकार जो जानता है वही भगवान को प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार नृसिंह गायत्री के रूप में जिस गायत्री का वर्णन हुआ है, वह सावित्री से भिन्न नहीं है। उसकी उपासना द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है।

गणेश-गायत्री

गणपत्युपनिषत् में गणेशजी को ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रूप स्वीकार करते हुए 'त्व ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्' कहकर उन्हें साक्षात् ब्रह्म रूप एवं भूः भवः स्वः रूप त्रैलोक्य तथा ओंकार रूप माना है। साथ ही गणेश—गायत्री का इस प्रकार उल्लेख किया है—'गकारः पूर्व रूपम्, अकारो मध्यमरूपम्, अनुस्वार श्चान्त्य रूपम्, बिन्दुरुत्तररूपम्, नादः सन्धानम्, संहिता सन्धिः सैषा गणेशी विद्या' अर्थात् 'गकार पूर्वरूप, अकार मध्यरूप, अनुस्वार अन्त रूप तथा बिन्दु उत्तर रूप है। नादसन्धान और संहिता संधि है। इस प्रकार की यह गाणेशीविद्या समझनी चाहिए।' इसके ऋषि गणक छन्द निचृद् गायत्री और देवता महागणपति हैं। अब गणेश-गायत्री बताते हैं—

एक दन्ताय विद्महे वक्र तुण्डाय धीमहि, तन्नो दन्तिः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम एकदन्त श्री गणपति को जानते हैं और उन वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं, वे गणेशजी हमें शुभ प्रेरणा करें।' यही गणेश-गायत्री है।

इस प्रकार त्रिदेव (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) के प्रतिनिधि एवं प्रतीक रूप गणेशजी से सम्बन्धित गायत्री भी प्रसिद्ध गायत्री या सावित्री से भिन्न नहीं है और इससे भी शुभ कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होती है।

सरस्वती गायत्री

सरस्वती वाणी की अधिष्ठात्री देवी है। उसमें विश्व के समस्त स्वरों की विद्यमानता है। सरस्वती की कृपा के बिना न तो वाक् शक्ति प्रखर होती है और न श्रेष्ठ बुद्धि ही प्राप्त हो सकती है। महाकवि कालिदास सम्बन्धी उपाख्यान में कहा जाता है कि कलिदास निरे मूर्ख और बुद्धिहीन थे जबकि उनकी पत्नी परम विदुषी थी। उसे ऐसा पति प्राप्त होने पर बड़ा खेद था और वह उनकी सदा हँसी उड़ाया करती थी।

कालिदास की जीविका लकड़ी काट कर बेचना और उससे जो प्राप्त हो जाय उसी में सन्तुष्ट रहना था। कभी-कभी लकड़ियाँ बहुत रात गये तक भी न बिकतीं और इसलिए उन्हें घर लौटने में भी बड़ी देर हो जाती। परन्तु, स्त्री को यह अच्छा नहीं लगता था।

एक बार ऐसा ही हुआ कि कालिदास रात्रि में बहुत विलम्ब से घर पहुँचे। किवाड़ें बन्द थीं ही, उन्होंने पत्नी को पुकार कर कहा—'किवाड़ें खोलो' तो पत्नी ने व्यंग में कह दिया कि 'बुद्धि के किवाड़ खोलने चाहिये।'

कालिदास को यह बात बहुत बुरी लगी, वे उल्टे पाँव लौटकर ग्राम से बहुत दूर, घोर वन में स्थित सरस्वतीजी के मन्दिर में जाकर उनकी उपासना करने लगे। धीरे-धीरे उनका मन उपासना में लगने लगा और बुद्धि का उदय होने लगा। एक दिन उन्होंने देखाकि सरस्वती जी उनके शिर पर अपना बरद हस्त फेरती हुई कह रही हैं—'कालिदास! अब तू परम विद्वान् और महाकवि होगया। तेरी रचनायें तुझे युग-युग तक अमर रखेंगी।'

सरस्वती की आकृति की कल्पना का आधार भी वैज्ञानिक है उन्हें 'वीणा पुस्तक धारिणी' कहकर उनके एक हाथ में वीणा और दूसरे हाथ में पुस्तक दर्शायी जाती है। वीणा अर्थ स्पष्ट है—स्वर और ज्ञान

का सम्मिश्रण। उससे जो मधुर झंकार निकले, वह ऐसी होनी चाहिये कि उससे विश्व के सब प्राणी प्रभावित हो जाँय।

दूसरे हाथ में पुस्तक का अभिप्राय भी सार्थक है—वेद, शास्त्र, पुराण सभी पुस्तक रूप में सुरक्षित हैं। उनमें जो अक्षरज्ञान भरा पड़ा है, वह त्रिलोकी के ऐश्वर्य से परिपूर्ण है। सम्पूर्ण विद्याएँ ज्ञानाश्रित होकर पुस्तकों में ही समाविष्ट हो रही हैं।

इस प्रकार सरस्वतीजी में भौतिक और आध्यामिक सभी प्रकार के ज्ञानों का समावेश है। वे अपने साधक को सब प्रकार की शुभ बुद्धियों से समन्वित करती हैं। गायत्री के साथ उनके मन्त्र का सम्पुट सिद्ध हो जाने पर मूर्ख साधक भी प्रकाण्ड पण्डित बन जाता है। मन्त्र यह है—

'ॐ सरस्वत्यै विद्महे, ब्रह्मपुत्र्यै धीमहि, तन्नो देवी प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम उन ज्ञानदात्री एवं बुद्धि को प्रेरित करने वाली सरस्वतीजी के गुणों को भले प्रकार जानते और उन ब्रह्मसुता का ध्यान करते हैं, वे भगवती सरस्वती देवी हमें शुभ बुद्धि-प्रदान करें।'

उक्त मन्त्र का जापक अपने में दिव्य अनुभूतियाँ पाने लगता है। उसका ज्ञान शीघ्र ही चरम सीमा पर पहुँच जाता है, इसलिए न जाने हुए या न सुने हुए विषयों का ज्ञान भी स्वतः होने लगता है। गायत्री की शक्ति का भी समावेश होने के कारण साधक को शीघ्र ही दिव्य दृष्टि और दिव्य श्रोत्रों की प्राप्ति होती है।

महालक्ष्मी-गायत्री

लक्ष्मीजी भगवान् नारायण की प्रिया मानते हैं। बंधन की अधिष्ठात्री देवी हैं, इसलिए सब प्रकार का वैभव प्रदान करने में समर्थ है। उनके नाम को गायत्री के साथ जोड़ देने से साधक द्विगुणित ऐश्वर्य को प्राप्त करने में सफल हो सकता है। मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ महालक्ष्यै विद्महे, विष्णु-प्रियायै धीमहि, तन्नो लक्ष्मी प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम् साधक गण भगवती महालक्ष्मीजी के गुण, प्रभाव स्वभाव और रहस्य को भले प्रकार जानते हैं और इसीलिए उन विष्णु-प्रिया का संयत चित्त से ध्यान करते हैं, वे लक्ष्मीजी हमें एश्वर्य प्राप्त कराने वाली बुद्धि से समन्वित करें।

महालक्ष्मीजी के साधक को कभी किसी अभाव का सामना नहीं करना होता, क्योंकि उसे उसकी इष्टदेवी लक्ष्मीजी सभी प्रकार का वैभव प्रदान करने में समर्थ हैं। भक्त साधक तो सदा अपने इष्ट के बल-भरोसे पर रहता है और अपनी सभी चिन्ताएं उसी पर छोड़ देता है। इसलिए इष्टदेव का कर्तव्य हो जाता है कि वही उसकी रक्षा एवं पालनादि की चिन्ता करे।

लक्ष्मीजी को चञ्चला माना गया है। साधक के किंचित् भी प्रमाद से वे उसका साथ छोड़ देती हैं। परन्तु, यदि थोड़ा-सा भी प्रयास किया जाय तो उनकी प्रसन्नता भी शीघ्र प्राप्त हो सकती है। यही उनकी विशेषता है, जो उपासकों को उनकी कृपा पाने के लिए आकर्षित करती है।

उन्हें सर्व व्यापिनी भी मानते हैं, क्योंकि उनकी गति सर्वत्र है। किसी भी लोक का ऐश्वर्यं हो उनके लिए बहुत ही तुच्छ एवं सुलभ है। इसलिए वे अपने उपासक को मनोवांछित ऐश्वर्य देने में संकोच नहीं करतीं।

उक्त मन्त्र में लक्ष्मीजी के एश्वर्य गुण और गायत्री के ज्ञान गुण का योग होने से धन-प्राप्ति वाली बुद्धि प्रखर होती और साधक सदा सुखी रहता है।

राधा-गायत्री

ब्रज क्षेत्र में कृष्ण-प्रिया राधा की उपासना बहुत प्रचलित है। जो लोग कृष्ण के उपासक हैं, उनमें से अनेक उपासक राधा की

उपासना किया करते हैं। क्योंकि भगवती राधा श्रीकृष्ण की आह्लादिनी शक्ति हैं, वे उनकी सर्वाधिक अन्तरङ्ग हैं, और अपने भक्त को सभी कुछ प्रदान करने में समर्थ हैं।

भगवती राधा के नाम-जप के साथ गायत्री मन्त्र के अङ्गों का समावेश करने से द्विगुणित वैभव की प्राप्ति होती है। उस राधा-गायत्री का मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ वृषभानुजायै विद्महे कृष्ण प्रियायै धीमहि, तन्नो राधा प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम वृषभानुसुता राधा के सम्पूर्ण वैभव और शक्तियों को जानते हैं और उन्हीं कृष्णप्रियता का ध्यान करते हैं, वे भगवती राधा हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में योजित करें।'

इस प्रकार राधा–गायत्री का साधक सब प्रकार के ऐश्वर्यों को प्राप्त होकर सभी ऐश्वर्यों की प्राप्ति में सफल होता है। उनकी साधना से अद्वितीय प्रेम की उपलब्धि होकर हृदय भगवान् के प्रेम में निमग्न हो जाता है। उसे किसी प्रकार की वासना नहीं व्यापती।

शास्त्रों ने कृष्ण और राधा की अभिन्नता का वर्णन करते हुए कहा है कि जो कृष्ण है वही राधा हैं और जो राधा हैं वही कृष्ण हैं इसलिए राधा की उपासना से कृष्ण की उपासना भी स्वतः सिद्ध हो जाती है।

सीता-गायत्री

सीताजी को भी मूल प्रकृति कहा गया है। सभी विद्वान् उन्हें साक्षात् योगमाया मानते हैं। वे प्रणव की प्रकृति स्वरूप है, इसलिए प्रकृति भी कहलाती हैं।

उनके नाम में जिन अक्षरों का समावेश है, उनमें से 'सकार' से सत्य, सिद्धि, सुधा और सोम का अर्थ सम्पादन होता है। इसलिए उन्हें सत्य, स्वरूपा, सिद्धि की प्रतिमा, अमृत की खान और चन्द्रमा

की शीतलता से युक्त समझना चाहिए। 'ईकार' से उनका अव्यक्त महामाया होना स्वीकार किया गया है। अथवा उन्हें दिव्याभरण से सुशोभित और दिव्य धन प्रदान करने वाली भी कह सकते हैं।

'तकार' दिव्य तनु अथवा लक्ष्मी स्वरूपा मानते हैं। अथवा तकार का अर्थ तर्क-सम्मत या तर्क-सिद्ध भी होता है। दीर्घ 'अकार' महान् सामर्थ्य अन्य किसी में भी नहीं है।

सीताजी विश्व का कल्याण करने वाली हैं। वे अपने साधक को यथा कामना वर-प्रदान करती हैं। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सभी कुछ उन्हीं के अधीन है। वे षडैश्वर्य से सम्पन्न होने के कारण सब प्रकार के ऐश्वर्यों का प्रदान करने में समर्थ हैं।

वे इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति की साक्षात् प्रतीक हैं। वे ही चन्द्र रूपिणी होकर सभी अन्नों और वनौषधियों को पुष्ट करतीं और देवताओं को महस्तोम का फल प्रदान करती हैं। उनके नाम जप के साथ गायत्री का सम्पुट होने से आश्चर्यजनक फल की प्राप्ति होती है। वह गायत्री मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ जनकसुतायै विद्महे, राम-प्रियायै धीमहि, तन्नो सीता प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम जनक पुत्री सीताजी के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों सिद्धियों और शक्तियों को जानते हैं और उन राम-प्रिया का ध्यान करते हैं, वे भगवती सीताजी हमको सब प्रकार के ऐश्वर्यों की सिद्धि कराने वाली बुद्धि की प्रेरणा करें।'

इस प्रकार सीताजी के नाम-मंत्र के साथ गायत्री मंत्र के अनभूत शब्दों का योग होने से साधक में अद्भुत बल और साहस भर जाता है। वह सभी ऐश्वर्यों को प्राप्त करता हुआ अन्त में अपनी साधना-शक्ति से संसार-सागर से तर कर आवागमन से मुक्त हो जाता है उसे फिर कभी जन्म नहीं लेना पड़ता। यही सीताजी का अमृतत्व वर साधक को सभी सिद्धियाँ प्रदान करता है।

दुर्गा-गायत्री

यह गायत्री दुर्गा देवी से सम्बन्धित होने के कारण लोक में अधिक प्रचलित है। क्योंकि सभी विद्वान् भगवती दुर्गा को दुर्गति दूर करने वाली मानते हैं। उनके अवतरण का उद्‌देश्य देवताओं को संगठित करना था. इसलिए उन्हें संगठन का प्रतीक माना गया है। उनके वीर-वेश से यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य को सदा साहस से कार्य लेना चाहिए। दुष्टों और उनके अन्यायों का विरोध करते हुए किसी के मिथ्या प्रभाव में न आना भी वीरता का प्रतीक है और भगवती दुर्गा इन सब बातों में सब से आगे रही हैं।

'दुर्गा' शब्द में द' अक्षर दरिद्रता, दुःख, दुर्भिक्ष, दुर्व्यसन आदि को दूर करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है 'रेफ' अथवा अर्द्ध रकार से रोग-नाश और गकार से गति या गुण प्रदायिनी का अर्थ लगता है। अन्त में जो अकार है उससे अन्याय, अत्याचार अधर्म आदि का विनाश समझना चाहिए। इस प्रकार पूरा 'दुर्गा' शब्द महान् शक्तिशाली होकर आसुरी प्रवृत्तियों का नाशक सिद्ध होता है।

उस महान् शक्ति के साथ जब गायत्री की सर्वोत्कृष्ट शक्ति मिल जाती, तब उसमें जो सामर्थ्य उत्पन्न हो जाती है, उसका वर्णन करना कोई सामान्य बात नहीं। उस शक्ति के द्वारा तीनों लोकों की आसुरी शक्तियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। इसलिए उसका साधक अपनी सामर्थ्य से ही चाहे जिस ऐश्वर्य को प्राप्त कर सकता है। साधारण कार्यों की सिद्धि तो साधक की इच्छा मात्र से ही हो जाती है। वह गायत्री इस प्रकार है—

ॐ गिरिजायै विद्‌महे, शिव प्रियायै धीमहि, तन्नो दुर्गा प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम भगवती गिरिजा के ऐश्वर्य और औदार्य को जानते हैं तथा उन्हीं शिव प्रिया का ध्यान करते हैं, वे भागवती दुर्गा हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रेरित करें।'

इस गायत्री का जप करते समय भगवती दुर्गा और शिव-प्रिया पार्वती जी का ध्यान करना चाहिए। इसके प्रभाव से साधक के विरुद्ध कभी कोई आसुरी प्रवृत्ति शिर नही उठा सकती। शत्रु-भय, दुष्ट, हिंसक जीवों का भय अथवा अन्याय प्रकार की दैवी विपत्तियों का इसके प्रताप से शीघ्र शमन होता है। इस मन्त्र में सभी दिव्य शक्तियाँ संगठित रहती हैं, क्योंकि दुर्गा में सभी देवताओं का समावेश है, इसलिए साधक सभी ऐश्वर्यों से सम्पन्न हो जाता है।

देवी-गायत्री

देव्युपनिषत् में दैत्य विनाशिनी महादेवी को सर्वसुख रूपा, कामधेनु के समान इच्छित फल देने वाली, अन्न और बल प्रदायिनी, काल नाशिनी, विष्णु-शक्ति, कल्याणमयी और पापों के नष्ट करने वाली कह कर देवी-गायत्री पर प्रकाश डाला गया है। यथा—महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि, तन्नो देवी प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम सर्व-सिद्धि रूप महालक्ष्मीजी को जानते हैं और उन्हीं का ध्यान करते हैं, वे देवी हमें (सर्व सिद्धि के विषय में) प्रेरित करें।

अभिप्राय यह है कि देवी-गायत्री के द्वारा तीनों लोकों की सभी सिद्धियों को प्राप्त किया जा सकता है। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र के उपासक भी सर्व सिद्धियों के विजेता होते हैं। इस प्रकार देवी-गायत्री भी उससे भिन्न नहीं है।

गायत्री का एक तान्त्रिक स्वरूप

सावित्र्युपनिषत् में गायत्री के तीन पादों का विवेचन करने के पश्चात्, मन्त्र के तान्त्रिक स्वरूप को व्यक्त किया गया है—'ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विध पुरुषार्थं सिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वर-दात्मिक ह्रीं वरेण्यं भर्गोदेवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्व क्षुच्छ्रमोपनाशिनी धीमहि धियो यो नर्जाते प्रचुर्या या प्रचोदयात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा:।

उक्त मन्त्र बला और अतिबला विद्याओं के देवताओं से सम्बन्धित है। इसके साधक को सृष्टि के सभी रहस्यों का पूर्ण ज्ञान होकर तीनों लोकों के ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है। इस मन्त्र की सिद्धि के लिये सात्विक हवन सामिग्री से हवन भी करना चाहिए।

मौद्गल्योपाख्यान

गायत्री उपनिषद् में एक मनोरञ्जक आख्यान मिलता है। उसके अनुसार ग्लाव मैत्रेय ने मौद्गल्य के शिष्य के समक्ष उसके गुरु का उपहास करते हुए कहा—'अपने इस ब्रह्मचारी को मौद्गल्य क्या शिक्षा देता है ? (अर्थात् कुछ नहीं पढ़ाता)

यह सुनकर शिष्य ने अपने गुरु के पास जाकर कहा—'भगवन् ! आज जो अतिथि हुए हैं, वे आपको मूर्ख समझते हैं।' आचार्य ने कहा--'तुम उनके विद्वान् और सूक्ष्मदर्शी शिष्य को मेरे पाम ले आओ।'

वह शिष्य अतिथि के शिष्य को बुला लाया। उससे मौद्गल्य ने पूछा—'सोम्य ! तुम्हारे आचार्य क्या पढ़ाते हैं ?' उसने उत्तर दिया--'तीनों वेदों का प्रवचन करते हैं।'

यह सुन कर मौद्गल्य ने अपने शिष्य को आदेश दिया—'सोम्य ! तुम ग्लाव मैत्रेय के पास जाकर कहो कि बारह मिथुन और चौबीस योनि वाली, भृगु और अङ्गिरा रूप नेत्रों से समन्वित एवं सबको आश्रय देने वाली सावित्री गायत्री को हमें पढ़ाने की कृपा कीजिए।'

मौद्गल्य का शिष्य ग्लाव मैत्रेय के पास पहुँचा और उसने उनसे गायत्री पढ़ाने का निवेदन किया। परन्तु मैत्रेय उसका कुछ उत्तर नहीं दे सके।

यह देखकर मौद्गल्य के शिष्य ने कहा—'आपने उन्हें मूर्ख कहा था। उन्होंने जो पूछा उसे आप बतला नहीं सके। इसलिए आपको एक वर्ष में किसी कष्ट का सामना करना होगा।'

तब मैत्रेय ने अपने शिष्यों से कहा—'अब तुम सब अपनी अपनी इच्छानुसार अपने-अपने घरों को लौट जाइये। मैंने मौद्गल्य को मूर्ख कहा था, किन्तु मैं उनके प्रश्न का उत्तर न दे सका। इसलिए मैं उनके पास जाकर उन्हें शान्त करूँगा।'

दूसरे दिन प्रातःकाल ग्लाव मैत्रेय हाथ में समिधा लेकर मौद्गल्य के समक्ष उपस्थित होकर बोले मैं आपकी सेवा में उपस्थित हूँ। कृपया मुझे बताइये कि सविता का वरेण्य क्या है, देव का भर्ग क्या है और जिस तत्व के द्वारा प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है वह 'धी' संज्ञक तत्व क्या है?

मौद्गल्य ने उत्तर दिया—'सविता के वरेण्य वेद और छन्द हैं। पुरुष का अन्न ही देव का भर्ग है तथा कर्म ही वह 'धी' तत्व है जिसके द्वारा सबको प्रेरणा देता हुआ सविता विचरण करता है।

यह सुनकर ग्लाव मैत्रेय ने पुनः प्रश्न किया—'भगवान! सविता क्या है, सावित्री क्या है?

मौद्गल्य बोले—'मन सविता है, वाक् सावित्री है, जहाँ मन है वहाँ वाक् है. जहाँ वाक् है वहाँ मन है, यह दोनों दो योनि और एक मिथुन हैं। अग्नि सविता है, पृथिवी सावित्री है. जहाँ अग्नि है वहां पृथिवी है और जहाँ पृथिवी है वहाँ अग्नि है, यह दो योनि और एक मिथुन है। वायु सविता. अन्तरिक्ष सावित्री है, जहाँ वायु है वहाँ अन्तरिक्ष और जहाँ अन्तरिक्ष है वहाँ वायु है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। आदित्य सविता, द्यौ सावित्री है. जहाँ आदित्य हैं वहाँ द्यौ है जहां द्यौ हैं वहां आदित्य है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। चन्द्रमा सविता और नक्षत्र सावित्री है। जहाँ चन्द्रमा, वही नक्षत्र और जहां नक्षत्र है वहीं चन्द्रमा है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। दिन सविता, रात्रि सावित्री है, जहां दिन है वहाँ रात्रि और जहाँ रात्रि है वहां दिन है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। उष्ण सविता; शीत सावित्री है, जहाँ

उष्ण है वहां शीत और जहां शीत है वहाँ उष्ण है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। मेघ सविता और वर्षा सावित्री है, जहां मेघ है वहां वर्षा और जहाँ वर्षा हैं वहाँ मेघ है, यह दोनों योनि और एक मिथुन है। विद्युत सविता और तड़क सावित्री है, जहां विद्युत है वहाँ तडक और जहां तडक है वहाँ विद्युत है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। प्राण सविता, अन्न सावित्री है, जहाँ प्राण है वहाँ अन्न है और जहाँ अन्न हैं वहां प्राण है। यह दोनों योनि और एक मिथुन है। वेद सविता, छन्द सावित्री है, जहां वेद है वहां छन्द है और जहां छन्द है वहाँ वेद है, यह दोनों योनि और एक मिथुन है। यज्ञ सविता और दक्षिणा सावित्री हैं, जहाँ यज्ञ है वहाँ दक्षिणा और जहाँ दक्षिणा है वहां यज्ञ है, यह दोनों योनि और एक मिथुन है।'

यह व्याख्या सुनकर मैत्रेय ने निवेदन किया—'हे परम विज्ञ एवं परोपकारी महर्षे! आपकी सेवा में आकर यह ब्रह्मचारी ज्ञान से परिपूर्ण हो गया है। उन्होंने फिर कहा—तद्वहा अहं वेद नैतासु यानि-ष्वत एतेभ्यो वा मिथुनेभ्य: सम्भवती ब्रह्मचारी मम पुरायुषः प्रेयादिति, अर्थात्—'अब मैं यह जान गया हूँ कि इन योनियो अथवा इन मिथुनों में आया हुआ मेरा कोई ब्रह्मचारी अल्पायु नहीं होगा।'

अभिप्राय यह है कि उक्त विवेचन में जीवन का सम्पूर्ण रहस्य भरा हुआ है, जिसे जान लेने पर साधक को अन्न, धन, वैभव, बल, आरोग्यता और आयु की प्राप्ति सहज की सम्भव है।

कृष्ण-गायत्री

भगवान् विष्णु के सभी अवतारों में श्रीकृष्ण का अवतार सर्वोत्कृष्ट माना गया है क्योंकि श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी की समानता अन्य अवतारों में नहीं थी। उनकी बाल लीलाएं भी मनन करने के योग्य है। अनेक कृष्ण-भक्त उनके बाल-रूप के उपासक हैं तो अनेक उनके गोपीयुक्त रूप की उपासना करते हैं। वीरवेश के

उपासक भी कम नहीं हैं, क्योंकि वीर-वेश में ही उन्होंने गीता-ज्ञान दिया था।

भगवान् कृष्ण लीला-पुरुषोत्तम, रसिक-शिरोमणि और योगेश्वर भी कहलाते थे। उनके नाम-जप के साथ गायत्री का पुट देकर जप करना भी कल्याणकारी सिद्ध हुआ, इसलिए विद्वानों ने 'कृष्ण-गायत्री' के नाम से एक पृथक मन्त्र की रचना कर दी। इस मन्त्र में भगवान् कृष्ण के नाम-जप और गायत्री जप दोनों की शक्ति का सम्मिलन हुआ है, इसलिए यह अधिक शक्तिशाली हो गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ देवकी नन्दनाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो कृष्णः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम ओंकारात्मक देवकी-पुत्र भगवान् श्रीकृष्ण को जानते हैं, इसलिए उन्हीं का ध्यास करते हैं। वे श्रीकृष्ण हमें शुभ कर्त्तव्यों की प्रेरणा दें।'

इस प्रकार कृष्ण-गायत्री का यह मन्त्र अत्यन्त शक्तिशाली है। इसके द्वारा साधन अपने सभी कम्य फलों को प्राप्त करनेमें सफल होता है। भोग हो या मोक्ष, ऐसी कोई वस्तु नहीं जो कृष्ण-गायत्री के उपासक को प्राप्त न हो सके। भगवान् स्वयं ही श्रीमद्भगवद्गीता (६।३१) में निर्देश करते हैं—

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितं।
सवथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

अर्थात्—'जो योगी एकीभाव में स्थित होकर समस्त भूतों आत्मरूप से विद्यमान मुझ सच्चिदानन्दघन परमेश्वर को भजता है, वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी मुझ में ही वर्तता है।' (क्योंकि उसके लिए तो मेरे अतिरिक्त अन्य कुछ भी है ही नहीं)।

श्रीकृष्ण ने 'कर्म' को योग की जो संज्ञा दी, वह संसार के लिए प्रेरणा की स्रोत बन गयी। उनके द्वारा किये गये कर्म के निर्देश को

बड़े-बड़े आचार्यों ने भी विश्व के लिए कल्याणकारी स्वीकार किया है। और गायत्री मन्त्र में भी श्रेष्ठ कर्म का ही समावेश है।

विष्णु गायत्री

त्रिदेवों में भगवान् विष्णु को प्रमुख माना गया है। संसार के सभी प्राणियों का पालन, संरक्षण और योगक्षेम उन्हीं का कार्य है। उन्हें नारायण भी कहते हैं। ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियां मानी जाती हैं—ब्रह्मा, विष्णु और शिव। विष्णु के अधिकार में पालन, पोषण और संरक्षण होने के कारण संसार के सभी जीव उनकी अभ्यर्थना करते हैं।

इसीलिए विष्णु-भक्तों ने भगवान् विष्णु को अपना इष्टदेव स्वीकार किया और उनके प्रार्थना-मन्त्र में गायत्री के अवयवों का समावेश करके उसे परम शक्तिशाली बना लिया। उस मन्त्र को विष्णु-गायत्री नाम देकर कल्याणकारी उपासना प्रारम्भ की गई। वह मन्त्र इस प्रकार है—

'ॐ नारायण विद्महे, वासुदेवाय धीमहि, तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम प्राणवात्मा भगवान् नारायण की सामर्थ्य को जानते हैं और उन्हीं भगवान वासदेव का ध्यान करते हैं, इसलिये ऐसे वे भगवान् विष्णु (हमारी बुद्धि को) शुभ कर्म में प्रेरित करें।'

भगवान् विष्णु सृष्टि की स्थिति में सदैव सावधान रहते हैं। असमय में ही सृष्टि के नियम में कोई अव्यवस्था उत्पन्न न हो पाये, यह देखना उनका प्रमुख कार्य है। जब कभी उन नियमों में व्यवधान उपस्थित होने लगता है और अनेक दुष्टात्मा उत्पन्न होकर प्राणियों को संत्रस्त करने लगते हैं, तब भगवान् विष्णु ही विभिन्न रूपों में अवतार लेकर उन दुष्टों को नष्ट करते हैं। गीता (४.७) में भगवान् स्वयं कहते हैं:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

अर्थात्—'हे अर्जुन ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब ही मैं अपने को उत्पन्न करता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ ।

शिव गायत्री

'शिव' का अर्थ कल्याण करने वाला है । उन्हें रुद्र, महादेव आदि भी कहते हैं । वे तीन कार्यों को पूर्ण करने में समर्थ हैं—(१) भौतिक क्षेत्र में अभीष्ट कमानाएँ, (२) बौद्धिक क्षेत्र में ज्ञान, और (३) आध्यात्मक क्षेत्र में मोक्ष ।

'रुद्र दु:ख द्रावयति विनाशयति इति रुद्र' अर्थात् 'जो दु:खों का नाश करे वह रुद्र है' दुखों को नष्ट करके सुख की वर्षा करना उनका प्रमुख कार्य है । यजुर्वेद में कहा है—'तापत्रयात्मक ससार दुख सत् दु:खहेतर्वा रुत्, रुद्रं द्रावयतीति रुद्र:' अर्थात् तापत्रयात्मक संसार के दु:खों का नाश करे वह रुद्र है ।'

ऋग्वेद में रुद्र को अभीष्टों की वर्षा करने वाला माना गया है । 'रुद्र अभीष्ट वर्षी हैं, उनसे उत्तम अन्न देने को प्रार्थना करता हूँ ।' अथवा 'हे रुद्र ! तुम अभीष्टों की वर्षा करने वाले हो ।' इस प्रकार का अभिप्राय व्यक्त करने वाले बहुत मन्त्र वेदों में भरे पड़े हैं ।

अनेक शास्त्रों ने रुद्र को बुद्धिदाता माना है । श्वेताश्वर उपनिषद् (३।४) में कहा गया है—'जो रुद्र देवताओं की उपत्ति और वृद्धि रूप तथा संहार का स्वामी है, वह हमें श्रेष्ठ बुद्धि वाला बनावे ।' अथर्व० नारायणोपनिषद् ने 'ईशानः सर्वविद्यानम् कहकर रुद्र को सभी विद्याओं का नियात्मक स्वीकार किया है ।

रुद्र सभी पापों को नष्ट कर मोक्ष प्रदान करने वाले हैं । श्वेताश्वर के अनुसार ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:' अर्थात् 'उनको जान लेने पर सब पापों से छुटकारा होता है ।'शरभोपनिषद् में कहा है—'शिव एव सदा ध्येय: सर्वसंसार मोचक:' अर्थात् 'संसार से मुक्त होने के लिए शिव ही ध्यान करने के योग्य है ।'

रुद्र या शिव की उक्त सामर्थ्य देखकर आचार्यों ने शिव-गायत्री की रचना की । उसका मन्त्र है—ॐ महादेवाय विद्महे, रुद्रमूर्तये धीमसि, तन्नो शिय प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम उन महादेव रुद्र के शक्ति-सामार्थ्य को भले प्रकार जानते और उनकी रुद्र-मूर्ति का ध्यान करते हैं, वे भगवान् शिव हमारी बुद्धि को शुभ-कर्मों की ओर प्रेरित करें ।'

इस प्रकार शिव-भक्तों के लिए यह शिव गायत्री अत्यन्त प्रिय है क्योंकि इसमें भगवान् रुद्र की अपनी अद्‌भुत सामर्थ्य के साथ गायत्री की दिव्य शक्ति का समावेश हुआ है । साधकों और आचार्यों के अनुसार शिव-गायत्री की उपासना से महान् उपलब्धियां होती हैं और अन्त जन्म-मरण का बन्धन भी छूट जाता है

राम गायत्री

भगवान् ने अपने रामावतार में श्रेष्ठ मर्यादाओं की स्थापना की थी । उन्होंने पाप-शाप वश दुर्गति को प्राप्त हुए भक्तों की रक्षा की और सन्तजनों के परित्राणार्थ राक्षसों का संहार किया था। उन्होंने जब रावणादि को मारकर अयोध्या का राज्य सँभाला, तब प्रजा उनसे अत्यन्त सन्तुष्ट हुई और इसीलिए 'राम-राज्य' की प्रसिद्ध हो गई ।

शास्त्रों ने उन्हें नारायण का ही अवतार माना है । वे परम वीर संयमी और भक्तों को अभय प्रदान करने वाले थे । इसलिए उनका ध्यान करने के लिए गायत्री-युक्त एक मन्त्र का आविर्भाव हुआ, जो कि इस प्रकार हैं:—

'ॐ दाशरथाय विद्‌महे, सीतावल्भाय धीमिहि, तन्नो राम प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम दशरथ-पुत्र भगवान राम के सब सामर्थ्यों को जानते हैं और उन्हीं-सीता-वल्लभ का ध्यान करते रहते हैं, वे भगवान राम हममें शुभ बुद्धि का प्रेरणा करें ।'

इस प्रकार भगवान श्रीराम की उपासना से उनके आदर्शों से युक्त बुद्धि की प्राप्ति होती है, इसलिए साधक सत्यनिष्ठ, आदर्शवादी,

संयमी, मितव्ययी, एकपत्नी व्रती, वीर और धर्म-पालक बनने का प्रयत्न करता है। राम को सर्व सम्पत्तियों का दाता मानते हुए महर्षि बाल्मीकि ने प्रार्थना की थी—'आपदामपि हर्त्तार दातारं सर्व सम्पदाम्' अर्थात् 'भगवान् राम सभी प्रकार की विपत्तियों के हरने वाले और सभी सम्पदाओं (वैभवों, ऐश्वर्यों या सिद्धियों) के देने वाले हैं।' उन लोका-भिरामं श्रीराम भूयो-भूयी नमाम्यहम्' अर्थात् 'संसार में दर्शनीय भगवान श्रीराम को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।'

हनुमान गायत्री

हनुमानजी भगवान श्रीराम के परम सेवक थे। वे आसाधारण वीरता और अलौकिक व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। उनमें सम्मोहन विद्या की सिद्धि और योगाभ्यास की प्रवलता थी। उनकी साधना से अद्भुत वल की प्राप्ति होती हैं। इसलिए साधकों ने उनकी उपासना में गायत्री मन्त्र का समावेश किया, जिससे हनुमान-गायत्री संज्ञक निम्न मन्त्र का उद्भव हो गया —

'ॐ अंजनी सुताय विद्महे, वायु पुत्राय धीमहि, तन्नो मारुतिः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हम उन अन्जनी पुत्र हनुमानजी के बल को भले प्रकार जान गये हैं, और उन्हीं वायु पुत्र का ध्यान करते हैं, वे हनुमान जी हमें शुभ कर्मों की प्रेरणा दें।'

इस प्रकार हनुमान-गायत्री में हनुमान और गायत्री की शक्तियों का ही समावेश नहीं है, भगवान श्रीराम की कृपा भी समाविष्ट है। इस कारण यह अन्य प्रकार के गायत्री मन्त्रों से अधिक प्रभावशाली माना गया है।

हनुमानजी भगवान राम के कृपा-पात्र भक्त थे। उनकी उपसना से राम की उपासना भी स्वतः सिद्ध हो जाती है। भगवान ने स्वयं ही उनकी प्रशंसा में कहा था—

सुन कपि तो समान उपकारी।
नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी।।

अर्थात्—हे हनुमान् ! सुनो, तुम्हारे समान उपकारी पुरुष देवता, मनुष्य या मुनि शरीर धारियों में भी कोई नहीं है।

और हनुमान चालीसा में तो भगवान् ने उन्हें भरत के समान प्रिय भाई ही मान लिया और यहाँ तक कह दिया कि 'सहसवदन तुम्हरो यश गावें' अर्थात् 'सहस्रमुख वाले शेष नाग अथवा उनके अवतार रूप लक्ष्मण जी भी तुम्हारा यशो गान करते हैं।' यह कहकर भगवान् ने उन्हें गले से लगा लिया। जब हनुमान्जी का ऐसा प्रभाव है तो उनकी गायत्री मे भी अल्प प्रभाव नहीं हो सकता।

याज्ञवल्क्य-स्वयंभुव सम्वाद

गायत्री रहस्योपनिषत् में महर्षि याज्ञवल्क्य और स्वयंभुव के मध्य हुए सम्वाद की चर्चा हुई है। उसमें महर्षि ने प्रश्न किया कि 'गायत्री का गोत्र, अक्षर, पाद, कुक्षि और शिर के विषय में बतलाइये।' इसका स्वयंभुव ने उत्तर दिया कि 'उसका गोत्र सांख्यायन है, चौबीस अक्षर, तीन और चार पाद, छः कुक्षियाँ और पाँच शिर हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पाद हैं। पूर्व दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ कुक्षि हैं, पाँचवीं कुक्षि आकाश और छठी भूमि है।'

अब पाँच शिर बताते हैं—'व्याकरणोऽस्याः प्रथम शीर्षोभवति, शिक्षा द्वितीयः, कल्प तृतीयः, निरुक्तश्चतुर्थः, ज्योतिषामयनमिति पंचमः' अर्थात् 'व्याकरण पहला शिर है, शिक्षा दूसरा, कल्प तीसरा, निरुक्त चौथा और ज्योतिष पाँचवां शिर है।

इसी उपनिषद् में आगे चलकर कहा है—'यह गायत्री अग्नि, वायु और सूर्य रूप वाली है। आह्वनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि स्वरूपा है। भूः भुवः स्वः रूप व्याहृति वाली है तथा प्रातः, मध्याह्न और सायं उसकी आत्मा है। वह सत्, रज, तम से युक्त है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति उसी के रूप हैं। वसु, रुद्र और आदित्यात्मिका

गायत्री त्रिष्टुप् और जगती रूप है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी उसी के रूप हैं। वह इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपिणी एवं स्वराट्, विराट् तथा वषट् रूपिणी और ब्रह्म रूप ही है।'

उक्त वर्णन यह स्पष्ट करता है कि चारों वेद गायत्री के पाद हैं, दिशाएँ कुक्षि और व्याकरण, शिक्षा, कल्प, निरुक्त और ज्योतिष उसके शिर हैं। वह अग्नि, वायु और सूर्य स्वरूपा है, त्रिकाल उसकी आत्मा है, ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपी त्रिदेव एवं ब्रह्म भी वही है। वह इच्छा, ज्ञान और क्रिया की साक्षात् स्वरूपा और स्वराट्, विराट्, षट्कार की भी प्रतिमूर्ति है। इस प्रकार गायत्री में सभी वेद, शास्त्र, देवता, अवस्था आदि की विद्यमानता दे। वही काल है, जो कि सम्वत्सर आदि को बदलने में समर्थ है। उसके द्वारा समस्त ऐश्वर्यों और सिद्धियों की प्राप्ति सहज ही हो सकती है।

गायत्री की चौबीस शक्तियाँ

देवी भागवत में गायत्री की चौबीस शक्तियों का जो वर्णन हुआ है, वह मननीय है। नारदजी के प्रति भगवान् नारायण, कहते हैं—कामदेवी, प्रिया, सत्या, विश्वा, भद्र विलासिनी प्रभावती, जया, शान्ता, कान्ता, दुर्गा, सरस्वती, विद्रुमा, विशालेशा, व्यापिनी, विमला, तमो अपहारिणी, सूक्ष्मा, विश्वयोनि, वशा, पद्मालया, परा, शोभा, भद्रा और त्रिपदा स्मृति ग्रन्थोक्त गायत्री के वर्णों की यह चौबीस शक्तियाँ हैं।

अब इनके वर्णों का वर्णन करते हैं:—चम्पा, अतसी-पुष्प, स्फटिक, कमल पुष्प, तरुण सूर्य, कुन्द, शंख, प्रवाल, पद्मपत्र, पद्मराग, इन्द्रनीलमणि, मुक्ता, कुंकुम, अंजन. लाल, वैदूर्यमणि, हरिद्रा, दुग्ध, सूर्य कान्ति, शुकपुंछ, शतपत्र, केतकी पुष्प, मल्लिका पुष्प और कन्नेर पुष्प—यह क्रमशः गायत्री के वर्णों के रङ्ग (आभा) समझना चाहिए। यह वर्ण ध्यान के द्वारा महापाप तक का शोधन करने में समर्थ होते हैं।

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, शब्द, स्पर्श, उपस्थ, पायु, पाद, पाणि, वाणी, घ्राण, जिह्वा, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, प्राण, अपान, व्यान और समान—यह क्रमशः वर्णों के चौबीस तत्व कहे गए हैं।

अब इनकी मुद्रा बताते हैं :—सुमुख, सम्पुट, वितत, विस्तृत, द्विमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, षण्मुख. अधोमुख, व्यापकांजलि, शकट, यमपाश, ग्रथित, सन्मुखोन्मुख, विलम्ब, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वराह, सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्गर और पल्लव—यह चौबीसों क्रमशः गायत्री की मुद्राएँ कहलाती हैं। वर्णो की यह मुद्राएँ गायत्री योग के साधक के लिए सदैव कीर्ति और कान्ति की देने वाली होकर महापापों को भी नष्ट कर देती है। इस प्रकार गायत्री के उक्त विवेचन के मनन और जप-ध्यान आदि के करने से संसार के सभी वैभवों की प्राप्ति हो सकती है। उसमें सभी तत्वों की विद्यमानता होने के कारण आरोग्य, बल और पुष्टि आदि उपलब्धि भी सहज रूप से सम्भव है।

सावित्री पंजर स्तोत्र में ध्यान का स्वरूप

एक बार देवर्षि नारदजी ने ब्रह्माजी के पास जाकर लोकहितार्थ महापापों से छुटकारा पाने का उपाय पूछा तो उन्होंने उनके प्रति वेदोक्त सावित्री पञ्जर स्तोत्र का उपदेश किया और ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा—

'यह गायत्री प्रणव की व्याख्या है जो कि आकाश के समान स्वर्ण-मय कमल पर विराजमान रहता है। कमल का धर्म स्वरूप कन्द ज्ञान को उत्पन्न करता है और वह गायत्री-ऐश्वर्य आदि आठ कलाओं से युक्त है। यह ब्रह्मरूपी वेदों से युक्त होकर चैतन्य में निवास करता है। तत्वरूपी हंस से समाकीर्ण, शब्द-पीठ पर विराजमान, नाद-विन्दु और कला से परिवर्तिनी है। जो एकरूपी चैतन्यपुर का प्रमुख द्वार है और जिसकी विद्या-अविद्या अमृत तत्वादि स्वरूप भित्ति है। जो

उस चैतन्यपुर को परिवेष्ठित किये हुए है तथा जो वेदरूपी अर्गला से सच्छन्न और निर्गुण रूपमय वाटिका के स्वरूप से संयुक्त है।

उस अहत वाटिका का स्वरूप यह है कि वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूपी चतुर्वर्ग से समन्वित है, इसे आनन्दरूपी अमृत का सागर समझना चाहिए। यह मनुष्यों की मनोकामना-सिद्धि के लिए महाकल्प वृक्षों के वन से समावृत्त है। निर्गुण ब्रह्म ही इस वाटिका का द्वार है तथा यह वाटिका ध्यान-धारणा स्वरूप योग-साधनों के तृण गुल्मों से समाकीर्ण है। इस वाटिका में चित्-सत्-असत् रूपी मृगों और पक्षियों विचरण होता रहता है। यह ध्यानरूपी गुणों से आवृत्त, विकारों से रहित, पंचीकरण पंचोत्थ (वेदान्त विषय) एवं पंच ज्ञानेन्द्रियों से भासित, चित् एवं भूततत्वों से जिसका ज्ञान होता है। वेद और उपनिषद् स्वरूप महर्षियों का समुदाय जिस निर्गुणरूपी वाटिका में निवास किया करते हैं और इतिहास ग्रहगण स्त्रियों के सहित जिसकी वन्दना किया करते हैं।

जिसकी अनेक प्रकार की गाथाएँ ही अप्सराओं के समान हैं, जिसमें यक्ष और किन्नर निवास करते हैं, तथा जहाँ पुराण स्वरूप नृसिंह भगवान् गर्जन कर रहे हैं, और कल्परूपी चारण उनका स्तवन करते तथा कल्प पुरुष रूपी चारण विविध प्रकार के चरित्र-वर्णनों से गान और विनोद करते हैं। जो साबित्री उन्हीं परब्रह्म की स्वरूपा, मन-वाणी से परे और परम दिव्य विग्रह वाली है वह गायत्री—

जगतः प्रसवित्रीं तां सवितुः सृष्टिकारिणीम्।
वरेण्य मित्यन्नमयीं पुरुषार्थ फल प्रदाम्॥

अर्थात्—वह इस संसार को उत्पन्न करने वाली, सविता और सृष्टि को प्रकट करने वाली, विश्व के भरण-पोषणार्थ अन्न का स्वरूप धारण करने वाली तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों का फल प्रदान करने वाली है।

'जिसमें अविद्या का लेश भी नहीं, जिसका कोई रूप नहीं परन्तु जो पूर्ण तेज से युक्त होकर विराजमान है, वह गायत्री सच्चिदानन्द रूपिणी और ब्रह्मरूपिणी है।' इस प्रकार उपदेश देने के पश्चात् ब्रह्माजी ने आगे कहा—

धीमह्य हंस वै तद्वद् ब्रह्माद्वैत स्वरूपिणी।
धियोयोनस्तु सविता प्रचोदयादुपासिताम्॥
परोऽसौ सविता साक्षादेनो निर्हरणाय च।
परो रजस इत्यादि परंब्रह्म सनातनम्॥
आपो ज्योतिरिति द्वाभ्यां पंचभौतिक संज्ञकम्।
रसोऽमृतं ब्रह्मपदैस्तां नित्यां तपिनीं पराम्॥
भूर्भुवः सुवरित्येतैर्निगमत्त्व प्रकाशिकाम्।
महर्जनस्तपः सत्यः लोको परि सुसस्थिताम्॥

अर्थात्—मैं उस ब्रह्म से अभिन्न एवं हंस रूपिणी गायत्री का ध्यान किया करता हूँ। मेरे द्वारा उपासित यह सवितादेव हमारी बुद्धि को सत्कार्यों में प्रेरित करें। जो गायत्री सभी पापों को नष्ट करने के लिए सविता रूप वाली होती है और रजोगुण से परे सनातन ब्रह्म का स्वरूप धारण किये स्थित है तथा जो 'आपो' और 'ज्योति' इन दो स्वरूपों से संसार के मूल रूप पंचभौतिक शरीर से विराजमान एवं अमृत रसरूपी अपनी ही किरणों से नित्य सूर्य स्वरूपा रहती है, जो 'भूः भुवः स्वः' इन तीन पदों से सभी पदार्थों को प्रकाशित करती और महः, जनः, तपः एवं सत्यलोक से भी ऊपर विराजमान रहती है।'

उक्त वर्णन से गायत्री की महिमा पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। वह पूर्ण रूप से निर्गुण ब्रह्मरूपा होती हुई भी लोक, कल्याण के लिए सगुण रूप से विराजमान रहती है। गायत्री के साधक धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूपी चारों पदार्थों का फल अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार गायत्री सभी ऐश्वर्यों के देने वाली सिद्ध होती हैं।

गायत्री महातत्व और उसकी महिमा

शास्त्रों ने गायत्री महातत्व की व्याख्या करते हुए उससे अंगों-उपांगों सहित सभी वेद-पुराणों के पाठ से होने वाले फल की प्राप्ति सहज में ही होना कहा है। यथा—

सर्व वेद पुराणेषु सांगोपांगेषु यत्फलम्।
सकृदस्य जपादेव तत्फलं प्राप्नुयान्नरः॥

अर्थात्—सभी वेदों और पुराणों के सांगोपांग पाठ का जो फल होता है, वह फल (गायत्री महातत्व के) एक बार पाठ करने मात्र में ही प्राप्त हो जाता है।

अब उस तत्व की व्याख्या करते हैं—'जो चौबीस तत्वों में एक उत्तम तत्व है, वह उपाधि-रहित परब्रह्म ही है और उससे परे एक ज्योति स्वरूप ओंकार ही है। वेदों आदि में स्वर कहा जाने वाला तथा वेदान्त में भी ओ३म् प्रतिष्ठित है। वह 'तत्' और 'सत्' आदि पदों के द्वारा वाच्य है। वह पर और अव्यय पद है। पदार्थ का अभेदक होना ही तत्पर ज्योति ओ३म् है। जिसकी माया के अंश भाग से यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है, वह जगत् ही उस रूप-रहित का सर्वोत्तम स्वरूप है। हम उसी का ध्यान करते हैं।

जिस परम स्वरूप के दर्शन की चेष्टा करते हुए देवगण भी उसे नहीं देख पाते, उस भूतों के अनिल देवता सुपर्ण का उपाधान करें। जिसका अंश रूप प्रेरित जन्तु कर्मों के पाश से नियन्त्रित है, उसके पापों का हनन करने के लिए ही यह गायत्री महातत्व निर्दिष्ट हुआ है। इसका जो मनुष्य अत्यन्त भक्तिपूर्वक पाठ करते हैं, उन्हें परम गति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार जब गायत्री का तत्व स्वरूप एक ओंकार ही सब पापों का नाशक और मोक्ष का प्रदायक सिद्ध होता है तब पूर्ण गायत्री

मन्त्र का कितना भारी प्रभाव होगा, इसका अनुमान सहज में ही लगा सकते हैं।

सहस्रनेत्र-गायत्री

गायत्री हृदय में सावित्री के शरीर का इस प्रकार वर्णन मिलता है—'द्यौर्मूर्ध्नि दैवतम्, दन्तपंक्तावश्विनौ, उभे सन्ध्ये चोष्ठौ, मुखमग्निः, जिह्वा सरस्वती, ग्रीवायां तु वृहस्पतिः स्तनयोर्वसवोऽष्टौ, बाह्वोर्मरुतः, हृदये पर्जन्यः, आकाशमुदरम्, नाभावन्तरिक्षम्, कट्योरिन्द्राग्नी, जघने विज्ञानघनः प्रजापतिः, कैलाशमलये उरः, विश्वेदेवा जान्वोः, जङ्घायां कौशिकः गुह्यमयने, ऊरू पितरः, पादौ पृथिवी, वनस्पतयोऽङ्गुलिषु ऋषयो रोमाणि, नखानि मुहूर्ता, अस्थिषु ग्रहाः, असृङ् मांसम् ऋतवः, संवत्सरा वै निमिषम्, अहोरात्रावादित्यश्चन्द्रमाः, प्रवरां दिव्यां गायत्रीं सहस्र नेत्रां शरणमहं प्रपद्ये।

अर्थात्—मस्तक में द्यौ देवता, दन्त पंक्तियों में अश्विद्वय, ओष्ठों में दोनों सन्ध्याएं, मुख में अग्नि, जिह्वा में सरस्वती, ग्रीवा में वृहस्पति, बाहुओं में मरुद्गण, हृदय में पर्जन्य, उदर में आकाश, नाभि में अन्तरिक्ष कटियों में इन्द्र और अग्नि, जघन में विज्ञानघन प्रजापति, उर में कैलाश मलय, जानुओं में विश्वेदेवा, जंघाओं में कौशिक, अयन में गुह्य, उरु में पितर, पाद में पृथिवी, अंगुलियों में वनस्पति, रोमों में ऋषिगण, नखों में मुहूर्त, अस्थियों में ग्रह, रक्त और मांस में ऋतुएं निमिष सम्वत्सर तथा आदित्य और चन्द्रमा अहोरात्र हैं, ऐसी प्रवर और दिव्य गायत्री देवी की, जिसके एक हजार नेत्र हैं, शरणागत होता हूं।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि गायत्री के शरीर में सभी देवता समाविष्ट हैं। अथवा यों कहिये कि सभी देवताओं के सम्मिलन से गायत्री का शरीर बना है। उसके अंग-प्रत्यङ्ग का निर्माण एक-एक देवता से हुआ है और उन-उन देवताओं की शक्ति गायत्री के उन-उन अंगों में भरी

हुई है, जिनसे वह अङ्ग बना है। इस प्रकार गायत्री में सभी देवताओं की पूरी शक्ति और सामर्थ्य भरी हुई है।

गायत्री को सहस्रनेता कहने का अभिप्राय यह है कि उसके नेत्र संसार के सभी स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों को देखने में समर्थ हैं। अभिप्राय यह है कि गायत्री से विश्व की कोई भी गति-विधि छिपी हुई नहीं है। वह साक्षात् ज्ञान रूप होने के कारण अपने साधक को ज्ञान के प्रकाश से परिपूर्ण कर देती है।

गायत्री में संयम से ज्ञान की उत्पत्ति

यह संयम करने की ही एक प्रक्रिया का संकेत है। मन का गायत्री में संयम करने से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। योग दर्शन के अनुसार—'शब्दार्थप्रत्ययानामि तरे तराध्यासात् सकरस्तत्प्रविभागसयमात सर्वभवरुतज्ञानम्' अर्थात् 'शब्द, अर्थ, ज्ञान इन तीनों का जो एक में दूसरे का परस्पर अभ्यास होता है, उसके मिश्रण एवं उनके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान हो जाता है।'

'गायत्री स्तवराज' ने गायत्री को ब्रह्म-विद्या कहा है और ब्रह्म-विद्या के द्वारा सुमुक्षुजनों को परमशिवपद की प्राप्ति होती है। यह श्री अर्थात् लक्ष्मी का पद भी प्राप्त कराती है (श्रीपदं वै करोति) अभिप्राय यह है कि गायत्री मन्त्र के जाप से धन-धान्य की भी सम्पन्नता होती है।

'सर्वोत्कृष्ट पदं तत्सवितुरनुपदान्ते वरेण्यं शरण्यं भर्गो देवस्य धीमह्यभिदधति धियो यो नः प्रचोदयात् इत्योर्व तेजः।' अर्थात् 'गायत्री का सर्वोत्कृष्ट पद 'तत्सवितु' हैं और इस पद के अन्त में जो 'वरेण्यं' है वह शरण प्राप्त कराने वाला है। फिर भर्गोदेवस्य धीमहि' पद से बुद्धि को सन्मार्ग में प्रेरणा की प्रार्थना है। इस प्रकार यह मन्त्र साक्षात् तेज स्वरूप है। स्तवराज ने इसके जप का फल बताते हुए उसे सब कामनाओं की सिद्धि का साधन बताया है, यथा—

साम्राज्य बीजं प्रणव त्रिपादं
सव्यापसव्यं प्रजपेत्सहस्रम् ।
सम्पूर्णः कामः प्रभवेद विभूति-
स्तथा भवेद्वाक्य विचित्रवाणी ॥

अर्थात्—'प्रणवों के सहित तीन पादों वाले साम्राज्य बीज का सव्य और अपसव्य होकर एक हजार जप करे। इससे सभी कामनाएं पूर्ण होतीं और वैभव की वृद्धि हो जाती है। जापक के वचनों में यह जप अद्‌भुत वाक् शक्ति उत्पन्न करने वाला होता है। अर्थात् उसकी वाणी में दिव्य ओज भर जाता है। और वह धारा प्रवाह भाषण करने में शक्य होता है।

अशुद्ध अवस्था में गायत्री-जप का निषेध

कुछ लोगों में यह भ्रान्ति है कि गायत्री का जप केवल शुद्ध रहते हुए ही करना चाहिए, अशुद्ध अवस्था में कभी न करे। परन्तु, इसमें कोई तथ्य नहीं है। परमात्मा के नाम का उच्चारण और स्वरूप का ध्यान कभी भी किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। वहीं गायत्री के विषय में मान्य समझना चाहिए 'गायत्री तन्त्र' में शिवजी पार्वतीजी के प्रति स्वयं कहते हैं—

अशुचिर्वा शुचिर्वापि गच्छस्तिष्टन् यथा तथा।
गायत्री प्रजपेद्धीमान् जपात् पापं निकृन्तति ॥

अर्थात—विवेकी पुरुष चाहे पवित्र अवस्था में हो अथवा अप-वित्र अवस्था में, कहीं जाते हुए, आते हुए, या चलते-फिरते हुए भी हो तो गायत्री का जप करता रहे, क्योंकि किसी भी समय किया जाने वाला गायत्री का जप सब पापों को दूर करने वाला होता है।

विभिन्न प्रकार के पापों के मिलने पर एक ऐसा जाल बन जाता है, जो मनुष्य को अपने फन्दे से किसी प्रकार भी निकलने नहीं देता। जो लोग आरम्भ में उसकी ओर से असावधान रहते हैं, वे शनैः शनैः

उनके बन्धन में बुरी तरह जकड़े जाने लगते हैं। उन्हें सब ओर बन्धन ही बन्धन दिखाई देता है। परन्तु पराशर-स्मृति उस दृढ़ बन्धन से भी छुटकारे का उपाय बताती हुई कहती है—

सर्वेषामेव पापानां संकरे समुपस्थिते।
शत साहस्रमभ्यस्ता गायत्री शोधन परम्॥

अर्थात्—जब सभी पापों का संकर (मिश्रण) उपस्थित हो जाय, तब एक सौ हजार गायत्री का जप करने से परम शोधन होता है। अभिप्राय यह है कि सभी प्रकार के पापों के मिश्रण से बना हुआ सुदृढ़ जाल गायत्री के जप से अवश्य ही कट जाता है। इस प्रकार गायत्री-मन्त्र पाप का नाशक और पुण्य का उत्पादन सिद्ध होता है। जहाँ पुण्य है वहाँ सुख है, इस न्याय से इसके द्वारा आनन्द की प्राप्ति होती है।

गायत्री से सभी पापों का नाश

सब पापों से निवृत्त होना जहाँ पुण्य या सुख का कारण है, वहाँ मोक्ष का कारण भी सिद्ध होता है। मोक्ष में यदि कोई बाधा है तो मनुष्य के अपने द्वारा किये हुए पाप ही हैं और 'मुच्यते सर्व पापेभ्यो गायत्र्याश्चैव जापनात' (संवर्त स्मृति) अर्थात् 'गायत्री का जप करने से सभी पापों से छुटकारा हो जाता है। तब मोक्ष में भी कुछ विशेष बाधा नहीं रही।

यदि किंचित् बाधा भी रहती है तो यही कि पापों से तो छुटकारा होगया, परन्तु, पुण्यों से भी छुटकारा होना आवश्यक है। क्योंकि मोक्ष तो तभी मिल सकती है, जब पाप और पुण्य दोनों से ही प्राप्त होने वाले कर्मों का क्षय हो जाय। यदि पुण्य कर्म भी शेष रहेंगे तो वे भोग की ओर प्रेरित करेंगे और भोग की वासना की विद्यमानता का रहना अस्वाभाविक नहीं है। तब यह भी सम्भव है कि उस समय न जानें किस प्रकार की वासना उत्पन्न हो जाय और उसके कारण न जानें कौनसा पाप-कर्म हो जाय। इसीलिए पुण्य-कर्मों की अधिकता भी

कल्याणकारी नहीं समझी जाती और यह माना जाता है कि वे कर्म भी बन्धन के कारण सिद्ध हो सकते हैं।

परन्तु, इसमें कुछ व्यग्र होने की बात नहीं। पाप-कर्मों की अपेक्षा पुण्य-कर्मों का निवारण बहुत सरल है। उसके लिए बहुत अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि पुण्य-कर्मों का निवारण तो उन्हें भगवान् के लिए समर्पित करने मात्र होजाता है। यदि साधक अपने सभी कर्मों में समर्पण करता रहे तो उसकी प्रवृत्ति सदैव पुण्य कर्मों में होगी। पाप-कर्मों में कभी हो ही नहीं सकती।

उपस्थान के पश्चात् गायत्री जाप का महत्त्व

दक्ष स्मृति ने साधक की प्रारम्भिक दिनचर्या का वर्णन करते हुए गायत्री के जप को कर्म में सम्मिलित कर दिया है, उसके कथनानुसार जल के मध्य मार्जन और यथा स्थान प्राणायाम और फिर उपस्थान के पश्चात् गायत्री जप करना चाहिए।

उपस्थान ततः पश्चात् सावित्र्या जप उच्यते।
सविता देवता यस्या मुखमग्निस्त्रिधास्थितः ॥

अर्थात्—उपस्थान के पश्चात् (उस) गायत्री का जप करना कहा है, जिसका देवता सविता (सूर्य) है, मुख अग्नि है और वह तीन प्रकार से (या तीन पाद में) स्थित है।

गायत्री से सब प्रकार के भय भी दूर हो जाते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, ब्रह्मराक्षस, शत्रु, रोग, व्याधि, सङ्कट, दैवी-विपत्ति आदि कोई भी ऐसा भय नहीं है, जो इसके जप से दूर न हो सकता हो। शंखस्मृति का कथन है—

सव्याहृतिकां सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
ये जपन्ति सदा तेषां न भयं विद्यते क्वचित् ॥

अर्थात्—व्याहृतियों के सहित, प्रणव के सहित और शिर के सहित गायत्री का जो साधक सदैव जप करते हैं, उन्हें कभी कोई भय नहीं हो सकता।

इसी (शंख) स्मृति के अनुसार गायत्री-जप के द्वारा सब पापों से निवृत्ति, सभी कामनाओं की पूर्ति, तेजस्विता की उपलब्धि और अन्त में अभीष्ट लोकों की प्राप्ति होती है। यह साधक को नरक में गिरने से बचाती और स्वर्ग की प्राप्ति कराती हैं। यदि स्वर्ग से भी बढ़ कर फल चाहे तो 'गायत्री जप्य निरतो मोक्षोपायं च विदन्ति' गायत्री के जप में लगा रहे। क्योंकि उससे मोक्ष का उपाय स्वतः सिद्ध हो जाता है।

अनाचरण, उच्छिष्ट-सेवन, मिथ्या कथन आदि के पापों से मुक्त होना भी उसके द्वारा सुसाध्य है। अत्रिस्मृति के अनुसार—

क्षत्रियान्नं यदुच्छिष्टमनात्यज्ञानतो द्विजः।
त्रिरात्रेण भवेच्छुद्धि यथा क्षत्रे तथा विशि ॥

अर्थात्—यदि कोई ब्राह्मण अनजान में क्षत्रिय का उच्चिष्ट अन्न खा ले तो तीन रात्रि पर्यन्त गायत्री का जप करने से शुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य भी शुद्ध हो सकते हैं।

गायत्री के समक्ष शत्रुओं पलायन

गायत्री मन्त्र की शक्ति के सामने बड़े-बड़े वीर शत्रु भी नहीं ठहरते। प्राचीन काल में मन्देहा जाति के राक्षसों का वर्णन मिलता है जो कि पूर्णतया अजेय समझे जाते थे। परन्तु गायत्री की शक्ति के समक्ष वे भी नहीं ठहर सके। हारीत स्मृति ने उस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है—

आदित्येन सह प्रात मन्देहा नाम राक्षसाः।
युद्धचन्ति वरदानेन ब्रह्मऽव्यक्त जन्मनः ॥
उदकांजलि निःक्षेपा गायत्र्या चाभिमन्त्रिताः।
निघ्नन्ति राक्षासान् सर्वान् मन्देहाख्यान् द्विजेरिता ॥

अर्थात् -प्रातःकालीन सूर्य के साथ मन्देहा नामक राक्षस ब्रह्माजी के वरदान से पुष्ट हुए युद्ध में तत्पर रहते हैं। उन सभी मन्देहा नामक

राक्षसों को ब्राह्मणों के द्वारा गायत्री मन्त्र से अभिमंत्रित जल की अंजलियाँ नष्ट कर देती है।

यह एक ऐसा संघर्ष है जो कि सूर्य और मन्देहा राक्षसों के मध्य नित्य प्रति चलता है और यदि द्विजगण सतर्क रहते हैं तो गायत्री मन्त्र से अभिमन्त्रित जल की अंजलि छोड़ते या सभी दिशाओं में छीटे देते हैं। उसके प्रभाव से वे राक्षस तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार गायत्री मन्त्र में जो अद्‌भुत शक्ति है, वह किसी अन्य मन्त्र मे नहीं है और इसीलिए सभी सन्ध्याकालों में गायत्री मन्त्र के जप निर्देश है। जो लोग सन्ध्या कालों से मन्त्र-जप नहीं कर पाते वे अपने जीवन में कभी भी सफल नहीं हो पाते।

इस प्रकार सभी वेद और शास्त्रादि पुकार-पुकार कर रहे हैं कि गायत्री की शक्ति अतुलित है, उसका सामना अन्य कोई भी शक्ति कर सकती। वह एक ओर संसार के सभी भोगों को प्रदान करती है तो दूसरी ओर 'मोक्ष दिलाने में भी कुछ कमी नहीं छोड़ती। इसलिए आचार्यों ने गायत्री को भुक्ति मुक्ति दायिनो कहा है। जो लोग इसकी उपासना करते हैं, वे सभी मनोवांछितों को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।

योगाभ्यास की सरल प्रक्रिया

गायत्री साधना

गायत्री स्वयं में एक पूर्ण मन्त्र है। यह एकाकी ही मनुष्य को चमत्कारिक उपलब्धियां उपस्थित करने में समर्थ है। यदि इसका निरन्तर धैर्यपूर्वक विधिवत् साधना करता रहे तो उसे इच्छित सफलताए शीघ्र ही प्राप्त होने लगती हैं।

अनेक शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों आदि में गायत्री का बड़ा माहात्म्य स्वीकार किया गया है। और उसका कारण स्पष्ट है कि गायत्री की साधना बहुत सरल है, और कलिकाल में सरल साधन की ही आवश्यकता है। क्योंकि महानिर्वाण तन्त्र में भगवान् शिवजी का कथन है—

तपः स्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि।
क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देह परिश्रमः ।।
गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे।
नान्यमार्गैः क्रिया सिद्धः कदापिगुहमेधिनाम् ।।

अर्थात्—कलियुग में मनुष्य तप और स्वाध्याय से हीन तथा अल्पायु वाले होंगे, इसलिए अशक्तता के कारण वे क्लेश साध्य और परिश्रम साध्य कार्यों के करने में असमर्थ रहेंगे। हे शिवे कलियुग में गृहस्थ जन केवल आगम में कही हुई योग-विधियां का पालन कर सकेंगे अन्य मार्गों का आश्रय लेने पर उन्हें क्रियानुष्ठान से कोई सिद्धि प्राप्त न हो सकेगी।

आगम क्या है ? यह प्रश्न प्रसंगवश आवश्यक भी है। शास्त्रों के दो प्रमुख भेद माने जाते हैं—आगम और निगम आगम का अभिप्राय सामान्यतः तन्त्र शास्त्र से लगाया जाता है और निगम का तात्पर्य वेदों वेदों से है। इस प्रकार यह दोनों ही प्रकार प्रभावकारी और प्रसिद्ध माने जाते हैं।

वस्तुतः 'आगम' शब्द का प्रयोग पूर्व काल में वेदों के लिये ही होता था, परन्तु बाद में जब तन्त्र शास्त्र की कल्पना की गई तब तन्त्रिकों ने आगम शब्द को स्वयं अपना लिये। यह देखकर वैदिक आचार्यों ने अपने साहित्य को 'निगम' नाम दिया और तब से तन्त्र के लिए आगम और वेदों के लिये निगम कहने की परिपाटी चल पड़ी।

परन्तु वेदाध्ययन और वैदिक क्रियाएँ—यज्ञ आदि का समय, अर्थ और परिश्रम तीनों से ही साध्य हो पाते हैं धन हीन साधक के

लिए किसी भी बड़े यज्ञ का करना तो बहुत ही कठिन कार्य है) बड़े यज्ञ क्या, सामान्य हवन की सामग्री जुटाना भी कुछ कम अर्थ साध्य नहीं है।

इसीलिए आज का मनुष्य जप, तप, पूजन, भजन, पाठ, गायन आदि सभी में सरल प्रक्रिया खोजना चाहता हैं। उसे अधिक कुछ करना भी न पड़े और बिना परिश्रम ही भगवान् मिल जाय तो इससे अच्छी और क्या उपलब्धि हो सकती है।

भक्तियोग के साधकों ने भक्ति मार्ग को अधिक सरल देखा तो वे उसे ही करने लगे। किसी ने शिवजी के पूजन में मोक्ष-प्राप्ति समझी और उसे ही करने लगा। उसमें चाहे मन लगे या न लगे, बढ़ते ही रहना होगा। जरा पांव डगमगाये तो फिर कहीं कोई सहारा नहीं। न जाने कितने भक्त अपनी भक्ति को छोड़कर पुनः मायामोह के भंवर जाल में जा फंसे। मार्ग में काम, क्रोध, लोभ, मोह रूपी जो मगर मिले वे कब छोड़ने वाले थे अपने शिकार को ?

यद्यपि भक्ति योग भी एकान्त-साधना की ही एक सरल प्रक्रिया है। परन्तु उसमें कभी-कभी कोई आडम्बर उपस्थित हो जाता है जिसमें स्त्री और पुरुष सभी सम्मिलित रहते हैं। 'आग-फूंस का बैर' वाली लोकोक्ति यद्यपि सभी जानते हैं किन्तु मार्ग में फिसलन है या तो फिसलना होगा अथवा संभल कर चलना होगा।

परन्तु, गायत्री-योग में आडम्बर कम और साधना अधिक है। गायत्री अपने साधक के मन को स्थिर कर परमात्मा से योग कराने में सहायिका सिद्ध होती है। वह जब अपने स्वाभाविक प्रवाह में होती है, तब उससे आत्मा-परमात्मा का परस्पर मिलन कराने वाले स्वर फूट निकलने हैं। उस समय साधक को मन्त्र जप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता और इस प्रकार वह गर्त में गिरने से बच सकता है।

गायत्री एक मन्त्र है। जब वह साधक के मन को अपने में लीन करने की चेष्टा करता है, तब उसकी स्थिति उस योगिराज से किसी प्रकार भी कम नहीं रहती जो कि अष्टाङ्ग योग की प्रक्रियाओं के अभ्यास में घोर परिश्रम किया करते हैं।

हमारी समझ में गायत्री-योग का अवलम्बन करने वाले योगी को गायत्री मन्त्र के जप से होने वाले और अष्टांग योग से होने वाले परिणामों को तुलनात्मक दृष्टि से देखना चाहिए और फिर यदि ऐसा प्रतीत हो कि गायत्री योग का पलड़ा अष्टांग योग की अपेक्षा अधिक असमानता उत्पन्न करने वाला नहीं है। तो अवश्य ही गायत्री योग का आश्रय लेना चाहिए।

परन्तु गायत्री-योग को यदि अष्टांग योग की सरल प्रक्रियाओं में सम्मिलित कर लिया जाय तो उसके आश्चर्यजनक परिणाम हो सकते हैं। क्योंकि अष्टांग योग के साधन से होने वाली आश्चर्यमयी शक्तियाँ, जब गायत्री के साथ योग करती हैं, तब उनसे दिव्य अनुभूतियाँ प्रकट होने लगती हैं। उसके फलस्वरूप साधक को किसी भी इच्छित सिद्धि की प्राप्ति हो सकती है।

अष्टांग योग के आठ अंग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। इसमें यम के दश प्रकार हैं—सत्य, अहिंसा, अस्तेय' ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, अल्पाहार, और बाह्यभ्यान्तरिक पवित्रता। फिर योगशास्त्रों ने जिन दश नियमों का वर्णन किया है, वे हैं—तप, सन्तोष, दान, आस्तिकता, लज्जा, मति, जप, व्रत, ईश्वर पूजन और सिद्धान्त श्रवण।

अब विचारणीय विषय यह है कि यम, नियम, के बीसों अंगों में से कौन सा अंग ऐसा है, जो प्रशस्त आचरण में अनुपयोगी हो सकता है? इसलिए इनके स्वरूप पर भी विचार कर लेना उचित होगा।

सत्य से अभिप्राय है सत्य भाषण या सत्य आचरण। अपने दैनिक व्यवहार में सत्य का प्रयोग सब प्रकार के साधक के लिए

आवश्यक होता है। यदि असत्य का आचरण करें—झूठ बोलें कूटनीति से कार्य लें, तो इससे आत्मा और अन्तःकरण के कुण्ठित रहने के कारण किसी भी प्रकार का साधन ठीक प्रकार से नहीं हो सकता। भक्ति, उपासना, पूजा योग आदि की कोई भी विधि क्यों न हो, उसके असत्य का समावेश है तो उसकी सिद्धि कदापि नहीं हो सकती। क्योंकि असत्य आचरण के साथ किया जाने वाला साधन ढोंग मात्र हो सकता है। उससे आत्मोत्थान और ईश्वर-प्राप्ति की दिशा में कभी नहीं बढ़ा जा सकता।

अहिंसा का तात्पर्य हैं—किसी की हिंसा न करना। हिंसा का अर्थ घातक आक्रमण ही नहीं है, वरन् जिस किसी प्रकार भी किसी के हृदय को चोट पहुँचती हो वह कार्य हिंसा ही है। किसी को गाली देना थप्पड़ मारना. मुख के सामने ही निन्दा करना इत्यादि कर्म भी हिंसा के अन्तर्गत ही आते हैं।

अब देखना यह है कि किसी को गाली देने, थप्पड़ मारने आदि कर्मों से क्या कभी आत्मात्थोन हो सकता है? यदि नहीं, तो आत्मा को कुण्ठित करने वाली कोई भी साधना कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिए सभी प्रकार की साधना में अहिंसा का पालन आवश्यक है।

अस्तेय का अभिप्राय हैं अचौर्य अथवा पराये धन की इच्छा न करना। किसी की कोई वस्तु धरती पर अरक्षित रूप से पड़ी हुई हो, उसे भी न उठावे वही अस्तेय है। जाबालदर्शनोपनिषद् में अस्तेय का एक अर्थ और भी किया हैं—

आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम्।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामते ॥

अर्थात—संसार के सभी व्यवहारों में अनात्मबुद्धि रखते हुए उन्हें आत्मा से भिन्न मानना भी ज्ञानी पुरुषों के अस्तेय ही कहा है।' इसका तात्पर्य यह समझना चाहिए कि संसार के सभी पदार्थ, यहां तक का शरीर भी आत्मा से भिन्न है, उसमें से किसी के प्रति भी मोह न रखना अस्तेय ही है।

जब तक शरीर और सम्बन्धित वस्तुओं में मोह बना रहेगा तब तक किसी भी प्रकार की साधना में चित्त नहीं लगेगा । मन की एकाग्रता में भी मोह एक बहुत बड़ी बाधा है, इसलिए किसी भी भौतिक वस्तु में आत्म-भाव का सर्वथा त्याग करना चाहिए ।

ब्रह्मचर्य-पालन भी साधक के लिए बहुत आवश्यक है। मन में काम-विकार का बना रहना ही चित्त की चचलता का प्रमुख कारण होता है। किसी स्त्री का चिन्तन, उसके चित्र आदि का अवलोकन अथवा पहले के किसी संसर्ग का स्मरण करना आदि मनमें क्षोभ उत्पन्न करने के सहायक सिद्ध होते है । इसमें कभी-कभी तो व्यथ उत्तेजना बढ़ जाती है, जो कि ब्रह्मचर्य में बाधा उपस्थित कर देती है । उपनिषत्कार के मत में 'कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिवर्जनम्' अर्थात् 'मन, वचन, शरीर से स्त्रियों से बचना ही ब्रह्मचर्य है ।' अथवा 'ब्रह्माभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परंतप' अर्थात् 'ब्रह्म में ही मन को बनाये रखने से ब्रह्मचर्य की सिद्धि होती है और वह ब्रह्मचर्य ही परम तपस्या है।' इसलिए सब प्रकार के साधकों को ब्रह्मचर्य-परायण रहना आवश्यक हैं ।

दया का अर्थ है प्राणिमात्र में आत्मभाव रखते हुए किसी के भी संकट में सहायक होना । अथवा किसी भी जीव को संकटग्रस्त देखकर उसको सांत्वना देना और संकट-निवारण के उपाय में लग जाना ही दया है। यदि साधक दया-हीन है तो उसकी साधना कभी भी सफल नहीं हो सकती। निर्दय मनुष्य भगवान की कृपा कभी प्राप्त नहीं कर सकता। किसी कवि का कथन है—'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान' जब दया धर्म की जड़ है तो निर्दय व्यक्ति मे धर्म का अभाव होना स्वाभाविक ही है और जिसमें धर्म का अभाव हो तो उसमें अधर्म का भाव रहेगा ही और अधर्मी पुरुष कभी किसी आराधना मे सफल नहीं हो सकता ।

आर्जव भी साधकों के लिए एक आवश्यक कर्म है। जाबालदर्शनोपनिषत्कार ने कहा है—

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम् ।
एकारूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ।।

अर्थात्—'पुत्र, मित्र, स्त्री तथा शत्रु और अपने आत्मा में भी समान भाव रखने को मैं आर्जव कहता हूँ।' अभिप्राय यह है कि सभी प्राणियों में आत्मभाव रखना आवश्यक है। क्योंकि आत्मभाव न रखने से किसी के प्रति दया उत्पन्न नहीं हो सकती और न किसी को पीड़ित देखकर उसकी पीड़ा दूर करने की ही भावना होगी। उस स्थिति में क्या कभी कोई साधना सफल हो सकती है ?

क्षमा का भाव क्यों आवश्यक है, इस पर विचार करते हैं। पराये अपराध का ध्यान न देकर उसके प्रति दुर्भावना न रखना ही क्षमा है। जाबालदर्शन उपनिषद में कहा है—

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुंगव ।।

अर्थात्—शत्रुओं के द्वारा शरीर, मन, वाणी से पीड़ा पहुँचाने पर भी अपनी बुद्धि में क्षोभ उत्पन्न न होने देना ही 'क्षमा' है। यदि साधक इस प्रकार के क्षमा-भाव को नहीं अपनाता तो चित्त में क्षोभ उत्पन्न होना स्वाभाविक है क्योंकि उससे द्वेष-भाव की उत्पत्ति होगी। और प्रतिहिंसा का आविर्भाव होकर प्रतिशोध-भाव जाग्रत हो जायगा। ऐसा होने पर किसी प्रकार की साधना में मन नहीं लग सकता। हर समय बदला लेने का विचार बना रहने के कारण बुद्धि भी शत्रु के अपकार का उपाय चिन्तन में लग जायगी और उस स्थिति में साधना का उद्देश्य विफल होना स्वाभाविक है।

धृति का अर्थ है—किसी विषय का दृढ़ निश्चय। कोई भी कार्य दृढ़ निश्चय के बिना पूरा नहीं हो सकता। किसी भी कार्य को आरम्भ करें, यदि चित्त में उसके प्रति अस्थिरता है तो उसकी सफलता में सन्देह भी स्वाभाविक है उपनिषत्कार के मत में—

वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ।
इति विज्ञान निष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिक ।।

अर्थात्—वेद की अनुकूलता से ही सांसारिक जीवों को मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है इससे भिन्न किसी भी प्रकार से नहीं हो सकती, इस प्रकार में दृढ़ निश्चय को ही ज्ञानीजन 'धृति, कहते हैं।

संसार सागर से पार होने के उपाय को मोक्षोपोय कहा गया है। वेद में ऐसे अनेक उपाय बताये गये है, जिनसे मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यदि कोई साधक दृढ़ निश्चय रखकर उनमें से किसी एक उपाय को करे तो उसे अवश्य ही सफलता मिलेगी। गायत्री के योग से ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करना भी वेद-निर्दिष्ट एक उपाय है। अथवा 'अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युतामतिः' अर्थात् 'मैं आत्मा हूँ, आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं हूँ, इस प्रकार की अविचल वृत्ति सर्वश्रेष्ठ धृति है।'

वेदान्तवादियों का कथन है कि आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है, इसलिए स्वय को 'अहब्रह्मास्मि' अर्थात् 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसी निश्चल वृत्ति रखने से आत्मोत्थान होता है और धीरे-धीरे साधक परमात्मा की प्राप्ति के निकट पहुँचने लगता है। इसलिए आत्मा-परमात्मा में अभेद रूप धृति के स्वभाव में डालना अत्यावश्यक है। सभी प्रकार की उपासनाओं में उपासना पद्धति और उपास्य के प्रति पूर्ण विश्वास वाली धृति भी मोक्षोपाय का एक प्रभावशाली अंग समझना चाहिए।

अल्पाहार का योगशास्त्रों ने भारी महत्व स्वीकार किया है। आवश्यकता से अधिक भोजन शरीर में भारापन लाकर आलस्य उत्पन्न करता है, इस कारण साधना नहीं हो पाती। अधिक भोजन से अनेक प्रकार के उदर-विकार उत्पन्न होकर रोग का रूप धारण कर लेते है। इसलिए किसी प्रकार के साधक के लिये ही नहीं सामान्य गृहस्थ के लिए भी कम खाना और गम खाना' के रूप में लोकोक्ति प्रचलित हैं।

अल्पाहार का स्वरूप क्या है? यह भी विचार के योग्य है। इस विषय में शास्त्रकारों का मत स्पष्ट है कि—

अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम्।
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम्॥

अर्थात् —अल्प मात्रा में सात्विक अन्न का आहार करे, उसमें उदर के आधे भाग को अन्न से और चौथाई भाग को जल से भरना उचित है तथा शेष चौथाई भाग को खाली रखे, यही मिताहार कहलाता है।

इस प्रकार का भोजन ही मनुष्यों के अनुकूल रहता है। यदि अधिक अन्न का आहार कर लिया जाय तो उसमें शरीर में स्फूर्ति नहीं रहती और स्थूलता भी बढ़ने लगती है।

सात्विक भोजन भी मिताहार का एक आवश्यक अङ्ग है। मिर्च, मसाले युक्त तीखे चरपरे, कट्टु, खट्टे आदि प्रकार के अन्नों का आहार सब प्रकार के साधकों के लिए अनुपयुक्त रहता है और माँस, मदिरा, अण्डा आदि का सेवन तो स्पष्ट से तामसिक आहार है ही। इनके सेवन से इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है और कामादि विकार उत्पन्न होकर साधक को पूर्ण रूप से भ्रष्ट कर देते हैं। इसलिए विद्वानों ने सब प्रकार के तमोगुणी आहार को निकृष्ट और सर्वथा त्याज्य माना है।

जो लोग सात्विक आहार करते हैं, उनका शरीर प्रमाद-रहित रहता है, किसी भी कार्य के करने में उनका मन लग जाता है अथवा यों कहिए की चित्त उछाट नहीं खाता। सात्विक आहार में दूध, फल आदि पदार्थ आते हैं। अन्नों में सुपाच्य अन्न गेहूँ आदि का सेवन किया जा सकता। शीघ्र पच सकने योग्य चपातियाँ, घीया, तोरई, बथुआ, पालक, मूली, गाजर आदि ऋतु के अनुकूल शाक-सब्जियाँ भी हितकर रहती हैं। दालों में मूँग या मोंठ की दाल हल्की और सुपाच्य होती हैं। उनका सेवन कर सकते हैं। परन्तु यह ध्यान रखा जाय कि शाक-सब्जियों और दालों में अधिक मिर्च मसाले न डाले जाँय।

शरीर बाहर और भीतर दोनों ओर से ही मलिन है। इसलिए उसे सब ओर से ही पवित्र रखना आवश्यक होता है। कोई समझे कि स्नान, चन्दन, तिलक छापे आदि से शरीर शुद्ध हो जाता तो यह समझना व्यर्थ है। मन में अपवित्रता भरी हो और बाहर से शरीर को पवित्र रखने का आडम्बर किया जाय तो उससे आत्मोन्नति की दिशा में किसी प्रकार का कोई लाभ नहीं हो सकता।

शास्त्रकारों ने मिट्टी और जल के द्वारा शरीर का मार्जन करना बाह्य शौच कहा है। प्रातःकाल मल-त्याग के पश्चात् मिट्टी से हाथों को धोना, कुल्ला-दाँतुन करना, तैल-मालिश और स्नान करना, केशों को सँवारना आदि कार्य बाह्य शौच के ही प्रतीक हैं। इसे भी अनावश्यक तो नहीं कह सकते, परन्तु आन्तरिक शौच की ओर ध्यान देना भी कम आवश्यक नहीं है।

'अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिण, अर्थात्—'मैं विशुद्ध आत्मा हूँ, ऐसा ज्ञान या भाव होना ही सर्वोत्कृष्ट शौच है।' अथवा चित्त को एकाग्र कर परमात्मा में लगा देना भी आन्तरिक शौच माना गया है।

मन में किसी प्रकार का दूषित विचार न आने देना भीतरी शौच का प्रमुख प्रकार है। पाप और अधर्म में चित्त न रखना तथा जीव मात्र के प्रति प्रेम, दया और कल्याण का भाव रखना सब प्रकार की उपासनाओं में आवश्यक समझा जाता है। यदि चित्त में दया, धर्म, शुद्ध आचरण, माना सन्तोष आदि नहीं हैं तो कभी भी कोई साधना सफल नहीं हो सकती।

मन की अपवित्रता मनुष्य के आचरण को मलिन बनाती है। उसमें विभिन्न विषयों का आकर्षण रहने के कारण मस्तिष्क शान्त नहीं रहता। काम, क्रोध, लोभ और मोह की जड़ जमाये रखने में अपवित्र मन ही सदा सक्रिय रहता है और यह स्थिति सभी प्रकार की उपासनाओं के सफल होने में बाधक सिद्ध होती है।

इस प्रकार दशों प्रकार के यमों का पालन केवल योगियों के लिए ही सब प्रकार के साधकों के लिए आवश्यक है। इसलिए गायत्री-योग की साधना में भी उनके उपयोग का महत्व अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

अब दश प्रकार के नियमों पर भी विचार कर लेना चाहिए। जैसे यमों की आवश्यकता सिद्ध होती है, वैसे ही नियमों की आवश्यकता भी अमान्य नहीं की जा सकती। वस्तुतः सभी प्रकार के यम और नियम आचरण को शुद्ध बनाकर साधना को परिपुष्ट करने में सहायक होते हैं, इसलिए उनका पालन करने से भक्ति, आराधना या योग की प्रक्रियाएँ व्यर्थ ही रह जाती हैं।

नियमों का अस्तित्व यमों से भिन्न नहीं है। वरन् यह कहा जाय कि नियम यम के ही पूरक है तथा सभी प्रकार के उपासकों की उपासनाओं में इनका भारी महत्व है।

नियमों में सर्व प्रथम स्थान 'तप' या तपस्या को दिया गया है। तप कोई बहुत कष्ट उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया नहीं है। यदि उसके मूल स्वरूप को देखें तो पायेंगे कि किसी भी साधना में लगे रहकर मन और शरीर दोनों से उसके अनुकूल कार्य लेना ही तप है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि तप में किसी प्रकार का कष्ट ही न होता हो। आप सीधे-साधे ढंग से बैठ कर परमात्मा के ध्यान में लगने का प्रयत्न कीजिये। मन को एकाग्र बना कर और शरीर को भी सीधा समान रख कर चिन्तन में लगे रहने का अभ्यास कीजिए। बस, वह अभ्यास ही तपस्या कहा जायगा। जाबाल दर्शनोपनिषत् में तप के रूप पर निम्न प्रकार से प्रकाश डाला है—

वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीर शोषणं यत्तप इत्युच्यते बुधैः॥
को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्।
इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥

अर्थात्—वेद में वर्णित प्रकार से कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर को सुखाना (क्षीण करना) ही विद्वानों के मत में तप है। अथवा मोक्ष का स्वरूप क्या है और आत्मा सांसारिक बन्धनों में क्यों पड़ता है, इस प्रकार का विचार करके उससे छुटकारा पाने के लिए वेदोक्त कर्मों को करना तत्वज्ञानियों के अनुसार तप ही है।

एकादशी, पूर्णिमा, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पवित्र दिनों में व्रतोपवास आदि रखना और चित्त को भगवान् में लगाये रखना भी तपस्या के अन्तर्गत ही आता है। परन्तु उसके साथ भी सत्य भाषण आदि के रूप में यमों का पलन करना भी आवश्यक होता है। जो लोग प्रत्यक्ष में तो व्रत, उपवास आदि करते है और मन में कामादि विकारों को पनपने देते है, अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते।

सन्तोष की साधना में अत्यन्त आवश्यकता होती है। जो साधक असन्तोषी होता है, उसके चित्त में चंचलता बनी रहती है और वह कभी शान्ति के प्राप्त नहीं होता। ईश्वरेच्छा से जब जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसी में तृप्ति का अनुभव करे और चित्त में अप्रसन्ना न माने तो इसे 'सन्तोष' ही कहेंगे।

सन्तोष के और भी प्रकार माने गये हैं, जाबालदर्शनोपनिषत्कार ने सुखों के प्रति विरक्ति को संज्ञा दी है—

ब्रह्मादिलोक पर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्।
सर्वत्र विगतस्नेहः सन्तोष परमं विन्दुः॥

अर्थात्—सर्वत्र अनासक्त भाव से रहता हुआ साधक ब्रह्मादि देवताओं के लोकों तक के सुख से विरक्त रहे और उस अवस्था में ही मन को प्रसन्न रखे, उसे ही ज्ञानी पुरुष 'सन्तोष' कहते हैं।

एक लोकोक्ति है—'सन्तोषी सदा सुखी' यदि सन्तोष है तो दुःख भी दुःख से रहेगा। क्योंकि सन्तोषवान् व्यक्ति को भी कभी कोई अभाव नहीं खटकता और अभाव का खटकना एक प्रकार का दुःख ही है। अभाव के विचार से दूसरों के सुख को देखकर ईर्ष्या उत्पन्न होने लगती

है और वह ईर्ष्या किसी अन्य का तो कुछ नहीं बिगाड़ती परन्तु अपना ही अहित करती है।

असन्तोष में पड़ा हुआ साधक तिल-तिल करके जलता रहता है। वह अपने अभाव का जितना ही चिन्तन करता है, उतनी ही कामना बढ़ती जाती है। यह सभी जानते हैं। कि कामनाओं का बढ़ना सब प्रकार की साधनाओं में विघ्नरूप सिद्ध होता है। इसलिए साधक को प्रयत्नपूर्वक असन्तोष का पूर्ण त्याग करना चाहिए।

दान भी एक आवश्यक कर्म है। कोई वस्तु अपने पास है और दूसरे के पास नहीं है, उसे उसकी आवश्यकता भी बहुत है तो साधक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपनी वस्तु या उसका कुछ भाग उसे दे दे। यही प्रवृत्ति विद्वानों के अनुसार 'दान' समझनी चाहिए। उपनिषत्कार के कथनानुसार—

न्यायार्जिताधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने।
अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया॥

अर्थात्—जो धन आदि आवश्यक वस्तुएँ न्याय विधि से उपार्जित की हुई हों, उन्हें संकटग्रस्त वैदिक पुरुषों की अथवा श्रेष्ठ आचरण वालों को दे दिया जाय, तो मैं उसे 'दान' कहता हूँ।

कोई शका करे कि जो वस्तु अपनी आवश्यकता से अधिक न हो तो उसे कैसे दे सकते है ? यदि दे देंगे तो स्वय कष्ट उठायेंगे, तो इसका समाधान यह होगा कि भारत के पूर्व पुरुषों का सदा यह नियम रहा है कि वे अपने कष्ट की चिन्ता न करके दूसरों को संकट-मुक्त करते थे। शास्त्रों और पुराणों मे ऐसे अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं, जिनके अनुसार मनीषी और वीर पुरुषों ने अपने प्राण देकर भी दूसरों की प्राण-रक्षा की थी। यदि शत्रु भी याचक बनकर आया तो उसे भी निराश न किया।

पूर्व काल में अनेकों दानवीर अपना सर्वस्व दान करके भी प्रसन्न रहे। उन्होंने न तो कभी अपने वचनों को तोड़ा और न कभी किसी को खाली हाथ लौटाया। इसी परम्परा के कारण यह देश आज भी गर्व से

अपना मस्तक ऊँचा किये हुए है। महाराज शिवि, दधीचि और कर्ण आदि अभी महान् दानी और पुण्यकर्मा होगए हैं, जिनकी कीर्ति संसार में आज भी यथावत् विद्यमान है।

दान के पश्चात् जो नियम कहा गया है। वह आस्तिकता है। परमेश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास को भी आस्तिकता कहते हैं। जाबालोपनिषत्कार ने आस्तिक के विषय में प्रकाश डालते हुए कहा है—'श्रौते स्मार्त्तें च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते' अर्थात् 'वेदों और स्मृतियों में कहे हुये धर्म में दृढ़ आस्था रखना आस्तिक्य कहलाता है।

जब तक किसी देवता, धर्म अथवा प्रणालीं के प्रति सुदृढ़ आस्था नहीं होती, तब तक वह देवता, धर्म या प्रणाली साधक को सफलता प्राप्त कराने में कारण नहीं हो सकती। आस्था का अभिप्राय विश्वास से भी है। अग इष्ट देवता, या धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न होगा, तभी श्रद्धा का भी आविर्भाव होगा क्योंकि बिना विश्वास के श्रद्धा का उत्पन्न होना सम्भव नहीं है।

श्रद्धा और विश्वास है तो किसी भी देवता की उपासना क्यों न की जाय, उसका फल अवश्य मिलेगा। मन श्रद्धा और विश्वास है तो उपास्य भी साक्षात् श्रद्धा-विश्वास स्वरूप हो जाता है। क्योंकि 'भवानी शंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' कहकर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी वैसा ही प्रतिपादन किया है।

इस प्रकार श्रद्धा और विश्वास ही वह दृढ़ आस्था है, जिसके अभाव में योग, उपासना, भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि निष्फल रहते हैं। गायत्री-योग के उपासकों को भी अपने हृदय को उसी प्रकार की दृढ़ आस्था के आश्रय में भगवान् की उपासना करनी चाहिए।

लज्जा मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। जिसमें लज्जा का अभाव हो वह मनुष्य नहीं, पशु के ही समान है। निर्लज्ज मनुष्य, चाहे स्त्री हो अथवा पुरुष, सभ्य मनुष्यों के समाज में कभी शोभा को नहीं पाता। विशेषकर स्त्रियों के लिए तो लज्जा का बड़ा भारी महत्व है। लज्जाहीन

नारी सदा बुरी दृष्टि से देखी जाती है और उसे कहीं भी वह आदर नहीं मिल पाता जो कि लज्जामयी स्त्री को मिला करता है ।

लज्जा क्या है ? इस पर अनेक आचार्यों ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं । एक आचार्य के अनुसार—

वेद लौकिक मार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत् ।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीःसैवेति प्रकीर्तिता ।।

अर्थात्—वैदिक और लौकिक मार्गों में उपस्थित होने वाले निन्दित कर्मों के करने में जो स्वाभाविक संकोच होता है, उसे विद्वान् लज्जा ह्री कहते हैं ।

बुरे कर्म के करने में मनुष्य को संकोच होता है । उस समय यदि कुछ बुद्धि से कार्य लिया जाय तो बुरा कार्य करने में लज्जा आती है और तब वह उस कार्य को करने से रुक जाता है । इस प्रकार जो मनुष्य समाज के सामने अपने को प्रतिष्ठित सिद्ध करना चाहते हैं, वे ऐसा कोई कार्य नहीं करते जिसे लज्जास्पद कहा जा सके । गायत्री-साधक को भी वैसे कर्मों से अपने को पूर्णतया बचाये रखना चाहिए ।

अब मति के विषय में विचार करते हैं—'वैदिकेषु च सर्वेष श्रद्धा या सा मतिर्भवेत्' अर्थात् 'गुरुजनों के अनुमति देने पर भी वेद-विरुद्ध मार्ग का अविलम्बन न करते हुए वेदोक्त उपदेशों में पूर्ण श्रद्धा रखना ही मति है ।

मति का तात्पर्य श्रेष्ठ बुद्धि से है । श्रेष्ठ बुद्धि वह है जो वेद-शास्त्रों से अनुमोदित धर्म में श्रद्धा रखे । यदि धर्म में श्रद्धा न होगी तो उसमें सम्बन्धित साधना भी निष्फल हो जायगी । इसलिए विद्वान् उपासक को अपनी बुद्धि को प्रखर और धर्ममयी बनाने का अभ्यास करना चाहिए ।

गायत्री मन्त्र में तो प्रमुखता ही बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रेरित करने की है । 'धियो यो नः प्रचोदयात्' का उच्चारण करता हुआ साधक सविता रूप परमात्मा से श्रेष्ठ बुद्धि की ही याचना करता है ।

यदि बुद्धि श्रेष्ठ है तो किसी भी कार्य का शुभारम्भ सफलता की ओर ले जाने वाला होता है।

श्रेष्ठ बुद्धि का अर्थ ईश्वर में विश्वास रखने वाली बुद्धि से भी है। परमात्मा सर्वश्रेष्ठ और सर्वोपरि है तो उसमें विश्वास उत्पन्न करने वाली मती भी श्रेष्ठ ही होगी। इस प्रकार सभी उपासना पद्धतियों में श्रेष्ठ मति की आवश्यकता रहती है और उपासक को उसका सदैव आश्रय लेना चाहिए।

जप उपासना की एक प्रबल प्रक्रिया है। किसी भी मन्त्र का जितना ही अधिक जप किया जायगा, उससे उतनी ही अधिक सामर्थ्य की वृद्धि होगी। जैसे किसी स्टोरेज में विद्युत शक्ति भरते-भरते उसके वोल्टेज बढ़ते जाते हैं, वैसे ही जप से उत्पन्न होने वाली तरंगें साधक के शरीर में एकत्रित होती हुई अधिकाधिक शक्ति भरती जाती हैं।

वेद ज्ञानियों के अनुसार जप उन्हीं मन्त्रों का करना चाहिए जो कि वेदोक्त हों। जाबालदर्शन के उपनिषत्कार ऋषि ने इस पर अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है—

कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके।
इतिहासे च वृत्तियाँ जपः प्रोच्यते मया॥

अर्थात—कल्पसूत्र, वेद, धर्मशास्त्र, पुराण और इतिहास आदि के मन्त्रों में चित्त की वृत्ति के निरन्तर ऐक्य भाव से लगे रहने को ही मैं जप कहता हूँ।

गायत्री मन्त्र वेदोक्त है और सभी वेद मन्त्रों में श्रेष्ठ और सवर्पोरि है। इसलिए इसका आश्रय लेना साधक के लिए परम कल्याणकारी होता है। इस मन्त्र की सिद्धि भी जप करने से ही होती है। चित्त को पूर्ण रूप से एकाग्र रखकर गायत्री मन्त्र का जितना अधिक जाप किया जाय, उतना ही अधिक सुपरिणाम प्रयत्क्ष होता है।

आचार्यों ने जप के दो भेद किये हैं—(१) वाचिक और (२) मानसिक। इन दोनों प्रकार के जपों के भी दो-दो भेद हैं। यथा—

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः ।
मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥

अर्थात्—'वाचिक जप के उपांशु और उच्च संज्ञक दो भेद हैं। इसी प्रकार मानसिक जप के भी दो भेद हैं—मनन और ध्यान। इनमें उच्च स्वर द्वारा किये गए जप की अपेक्षा उपांशु जप हजारों गुणा श्रेष्ठ है। उपांशु जप की अपेक्षा मानसिक जप उससे भी सहस्र गुणा श्रेष्ठ माना गया है। अब उच्च स्वर से जप के लाभ-हानि को कहते हैं—

उच्चैर्जपैश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत् ।
नीचैःश्रोत्रेण चेन्मन्त्रःश्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥

अर्थात्—उच्च स्वर से जप किया जाना सभी के लिए समान फलदायक है, परन्तु मन्त्र के चाण्डाल आदि नीच व्यक्तियों के सुन लेने पर वह निष्फल हो जाता है।

नियमों के अन्तर्गत 'व्रत' का वर्णन हुआ है। व्रत का अर्थ निश्चय, प्रतिज्ञा, उपवास आदि किया जाता है। किसी कार्य के करने का निश्चय करके उसे तब तक मनोयोग पूर्वक किया जाना, जब तक कि वह पूरा न हो जाय, उसकी पूर्णता के लिये किया जाने वाला व्रत ही है।

इसी प्रकार किसी कार्य को करने की प्रतिज्ञा लेना और उसे पूर्ण करने में कटिबद्ध हो जाना भी व्रत है। अथवा एकादशी पूर्णिमा, जन्माष्टमी, रामनवमी आदि पुण्य तिथियों में उपवास रखना भी व्रत ही कहलाता है।

शुद्ध आचरण और पवित्र मन से युक्त श्रेष्ठ दिनचर्या रखने को भी विद्वान् पुरुष व्रत के अन्तर्गत ही मानते हैं। किसी इष्ट देवता के प्रति किये जाने वाले अनुष्ठान मन, बुद्धि और शरीर की पवित्रता रखी जाती है, वह भी व्रत ही है। गायत्री-साधना में इसी प्रकार के व्रत का

महत्व है। क्योंकि मन, बुद्धि और शरीर की स्वच्छता के अभाव में कोई भी मन्त्र सिद्ध नहीं हो सकता।

जितने भी जप, पूजन, अनुष्ठान, व्रतादि किये जाते हैं, उन सबका उद्देश्य ईश्वर-पूजन ही है। महर्षि पतंजलि ने अपने योग दर्शन (२।३२) में ईश्वर-पूजन को ही ईश्वर-शरणागति की संज्ञा दी है, जिसके अनुसार मन, वाणी और कर्म से ईश्वर की भक्ति करना तथा नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन करके सब वृत्तियों को ईश्वर के प्रति अर्पण कर देना ही ईश्वर की शरण में जाना है। उस स्थिति में भक्त शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण, मन एवं प्राण को तथा उनसे उत्पन्न होने वाले कर्मों और कर्मों के फलों को तथा बाह्य और आन्तरिक जीवन को भी समर्पित कर देता है।

जाबालदर्शनकार ने पापों और विकारों से दूर रहकर ईश्वर का स्मरण करने को ही ईश्वर-पूजन माना है। उनके अनुसार—

रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वर पूजनम् ॥

अर्थात्—असत्य भाषण आदि दोषों से परे रहकर अदूषित वाणी एवं रागादि विकारों से मुक्त रहते हुए किए जाने वाले कर्म तथा हिंसा आदि क्रूरताओं से रहित श्रेष्ठ हृदय के द्वारा किये जाने वाले अनुष्ठान को ही ईश्वर पूजन समझना चाहिए।

दशवाँ नियम है—सिद्धान्त-श्रवण। वैदिक सिद्धान्तों को सुनना और उनके अनुरूप आचरण करना इसी के अन्तर्गत आता है। यदि कोई शंका करे कि यहाँ तो सुनने का निर्देश है, आचरण का नहीं, तो इसका समाधान यह होगा कि किसी निर्देश के श्रवण मात्र से उसकी पूर्ति नहीं होती। जब तक कि उसे व्यवहार में लाया जाय तब तक सुनना भी व्यर्थ ही है। 'इस कान से सुनो और उस कान से निकाल दो' वाली लोकोक्ति उस सुने हुए वाक्य की निरर्थकता का ही प्रतिपादन करती है।

योगदर्शनकार ने सिद्धान्त श्रवण के समानार्थक रूप में स्वाध्याय का निर्देश किया है। स्वाध्याय का अर्थ पठन, पाठन आदि से लगाया जाता है। वेद, शास्त्र, उपनिषद् एवं अध्यात्मक-विषयक उन ग्रन्थों का पठन, पाठन और मनन आदि जो कि विवेक ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध होते हों, स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। उस स्थिति में साधक के लिए आवश्यक होता है कि वह निन्दित कर्मों का पूर्ण रूप से त्याग करे और पुण्य कर्मों को करता हुआ ओंकार अथवा गायत्री आदि का जप करे।

इस प्रकार श्रवण, मनन आदि के द्वारा मनुष्य अपने हृदय को पवित्र बना कर श्रेय-मार्ग की ओर अग्रसर हो सकता है। गायत्री के साधक को भी यह बहुत उपयोगी है। चित्त को शुद्ध करके ही किसी उपासना में सफलता प्राप्त की जा सकती है और चित्त शुद्धि के लिए आवश्यक है स्वाध्याय और सिद्धान्त श्रवण। उसके योग से ही साधना में सफलता होती है। क्योंकि 'स्वाध्यायदिष्ट देवता सप्रयोगः (यो० द० २.४४) अर्थात् 'स्वाध्याय के द्वारा इष्ट देवता का साक्षात्कार होता है।' इसका कारण यह है कि स्वाध्याय और सिद्धान्त-श्रवण के द्वारा उपास्य के जिन गुणों की और यन्त्र, मन्त्रादि की जो धारणा की जाती है, उससे ध्यान की पूर्ण अवस्था प्राप्त होने पर रजोगुण और तमोगुण से शून्य हुआ चित्त सात्विकता के प्रकाश में स्थित होकर इष्ट आकार में स्थित हो जाता है।

इस प्रतिपादन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि सब प्रकार की उपासनाओं या साधनाओं में यमों और नियमों का पालन बहुत आवश्यक कर्त्तव्य है। गायत्री के उपासक को भी इनका आश्रय अनपेक्षित नहीं है।

गायत्री साधना में आसन का महत्व

योगशास्त्रों ने अभ्यास की सुविधा के लिए आसनों की कल्पना

की थी और साथ ही उनमें ऐसे आसनों का भी समावेश किया था, जिनका अभ्यास करते रहने से योगी का स्वास्थ्य ठीक बना रहे, उसे उदर-विकार या अन्य किसी प्रकार के रोग का सामना न करना पड़े।

उन आसनों की कल्पना का कारण यह भी था कि योग-साधक निरन्तर अपने अभ्यास में लगे रहने के कारण किसी प्रकार के व्यायाम आदि का अवसर नहीं पाते थे। प्रातः भ्रमण या किसी प्रकार का व्यायाम करने का उन्हें अवकाश ही नहीं मिलता था और बिना व्यायाम या परिश्रम के शरीर का निकम्मा हो जाना स्वाभाविक है ही। इसलिए आसनों में ऐसी व्यवस्था की गई कि साधक को व्यायाम किये बिना ही उसके गुणों की प्राप्ति हो जाय।

आसनों का उद्देश्य यह भी है कि साधना के अनुकूल स्थिति में बैठा जा सके। जब तक सुविधाजनक स्थिति में बैठा जायगा, तब तक साधना में चित्त नहीं लग सकता। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर लाखों प्रकार के आसन कल्पित किये गये। परन्तु बाद के योगाभ्यासियों ने उन सभी की सार्थकता को स्वीकार नहीं किया और उन्होंने उनमें से छाँट कर चौरासी उपयोगी आसनों को मान्यता दी।

परन्तु, उन चौरासी आसनों में अधिकांश आसन पूर्ण रूप से आवश्यक नहीं समझे गये। अनुभव कसौटी पर कसते-कसते उनकी संख्या में कमी होती गई। फिर भी किसी ने तीस प्रकार के आसनों को उपयोगी बताया तो किसी ने बीस प्रकार के। उनमें भी कमी करके किसी आचार्य ने नौ की संख्या में ही उपयोनी आसनों का चयन किया। इस प्रकार विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न संख्या में अपने-अपने अनुभवानुसार आसनों को मान्यता दी।

यह आवश्यक नहीं कि योगाभ्यासियों के अतिरिक्त अन्य पद्धतियों से ईश्वर की उपासना करने वालों को उन आसनों का आश्रय लेना ही चाहिए। क्योंकि यदि वे भ्रमण या व्यायाम के लिये समय

निकाल सकते हों तो उन्हें किसी आसन के अभ्यास की अपेक्षा नहीं रहती ।

फिर भी चाहे जिस प्रकार की उपासना-पद्धति से उपासना की जाय, किसी एक स्थिति से तो बैठना ही होगा । ऐसा कोई एक आसन तो चुनना ही होगा, जिसमें बैठने से किसी प्रकार के कष्ट की प्रतीति न हो । योगाचार्यों ने भी ऐसे आसनों को मान्यता दी है ।

वस्तुतः आसन वही है जिसमें सुखपूर्वक बैठा जा सके । 'स्थिर-सुखमासनम्' (यो० द० २।४६) अर्थात्—स्थिर रूप से और सुखपूर्वक बैठना ही आसन है ।' जिसमें बिना हिले-डुले स्थिरतापूर्वक किन्तु बिना कष्ट के बैठना सम्भव हो, वही श्रेष्ठ आसन समझना चाहिए जिस स्थिति में बैठने से शरीर स्वस्थ, हल्का और सुखी रहे तथा चित्त में किसी प्रकार की थकान या पीड़ा का अनुभव न हो, उस आसन से बैठना ही उचित एवं उपयोगी है ।

अधिक समय तक जप करने के लिए ऐसे ही श्रेष्ठ आसन की उपयोगिता है, जिसमें कि सुख पूर्वक स्थित रहा जा सके । इसके लिए एक सरल उपाय यह है कि किसी एकान्त किन्तु स्वच्छ स्नान को चुन कर उसे सुगन्धित धूप आदि से सुवासित कर लिया जाय और वातावरण की अनुकूलता के लिए घृत का दीपक जला लिया जाय । बैठने का स्थान झडा-पुछा साफ हो, उस पर कुश का आसन बिछाले और ऊपर से ऊनी या रेशमी वस्त्र की कोमल गद्दी डाल दे ।

उक्त प्रकार के आसन पर बैठना आरम्भ करने से पहिले कुछ दिनों तक शरीर शुद्धि की अत्यन्त आवश्यकता है । कोष्ठ इतना शुद्ध होना चाहिए कि साधना के समय मल-मूत्र का वेग उत्पन्न न हो पावे । आसन पर बैठने से पूर्व कुछ खाया-पिया न हो । अथवा अभ्यास प्रारम्भ करने से पहिले तीन घंटों में कुछ भी खाना-पीना उचित नहीं है ।

योगाचार्यों ने एक ऐसे आसन का भी वर्णन किया है, जो कि

येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते ।
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥

अर्थात्—जिस प्रकार की स्थिति में बैठने से शरीर को सुख की अनुभूति हो और धैर्य में किंचित् भी न्यूनता न आवे, उसी स्थिति को सुखासन कहते हैं ।

इसका अभिप्राय स्पष्ट है । जिस स्थिति में सुख पूर्वक देर तक बैठे रहने पर भी ऊब उत्पन्न हो, वही सुखासन है। गायत्री योग के साधक को इसी स्थिति में बैठकर जप-परायण रहना चाहिए । उसके लिए यही आसन सर्व श्रेष्ठ और उपयोगी है । कुछ आचार्यों ने सुखासन के स्वरूप का निर्धारण भी किया है, जो कि इस चित्र की स्थिति में बैठने का निर्देश करते हैं—

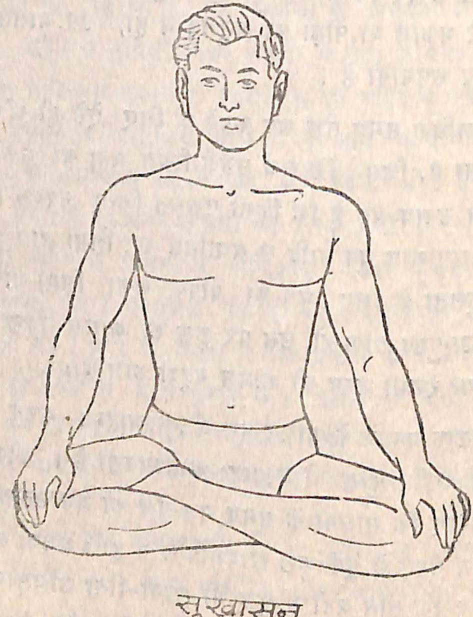

सुखासन

सुखपूर्वक बैठने मात्र से सिद्ध हो जाता है। जाबालदर्शनकार के मता-नुसार उस आसन का प्रकार निम्न है।

सीधे समान रूप से बैठे, टाँगों को इस प्रकार मोड़े कि किसी एक अंग पर दूसरे अंग का दबाव न पड़े। इस आसन की प्रशंसा में कहा गया है कि यह थकान नहीं होने देता और मन को प्रसन्न रखता है। मार्ग चलने के कारण जिनके दिल की धड़कनें बढ़ जातीं और जी घबराने लगता है, उनके लिए आसन लाभकारी है। इस प्रकार, इस आसन से बैठकर गायत्री—मन्त्र की साधना सुखपूर्वक सम्पन्न हो जाती है। अभ्यास में यह आसन अत्यन्त ही सरल और गुण में बहुत उपयोगी है।

जब आसन का अभ्यास हो जाता है, तब मन्त्र का जप स्वा-भाविक रूप से होता रहता है। अनेक साधक मन्त्र-साधना में प्राणायाम को भी समाविष्ट रखते हैं। यह एक ऐसी योग-क्रिया है जो सिद्धि प्राप्त कराने में पूर्ण रूप से सहायक होती है। इसलिए इसके विषय में कहना भी आवश्यक है।

प्राणायाम की सिद्धि तभी सम्भव है, जब कि आसन की सिद्धि हो जाय। क्योंकि ठीक प्रकार बैठे बिना प्राणायाम का अभ्यास नहीं किया जा सकता। महर्षि पतंजलि के अनुसार 'तस्मिन् सति श्वास प्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः' (यो० द० २।४६ अर्थात् 'आसन की स्थिरता का अभ्यास होने पर श्वास-प्रश्वास की गति रोकी जा सकती है और वही प्राणायाम है।'

श्वास का अभिप्राय बाहर की वायु को नासा छिद्र से खींचना है और प्रश्वास का अर्थ कोष्ठ स्थित वायु को बाहर निकालना है। श्वास-प्रश्वास गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक, कुम्भक द्वारा बाहर और भीतर रोका जाता है। इसीलिए प्राणायाम तीन प्रकार का है—(१) बाह्यवृत्ति या श्वास को बाहर निकालना रेचक (२) आभ्यन्तर

वृत्ति या श्वास को भीतर खींचना पूरक:, और (३) स्तम्भ वृत्ति या श्वास को भीतर अथवा बाहर रोक लेना कुम्भक। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास तभी करना चाहिए जब आसन का अभ्यास सिद्ध हो जाय। आसन-सिद्धि के बिना प्राणायाम-सिद्धि असम्भव है।

शरीर में पाँच वायु और पांच उपवायु है। इनका संचार सब नाड़ियों में होता रहता है। पचवायुओं के नाम हैं—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। उपवायुओं के नाम नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय हैं। इन देशों में प्राण और अपान को ही प्रमुख माना गया है। प्राण-वायु का निवास मुख, नासा-मध्य, नाभि और हृदय में है। अपान, वायु, गुदा, उपस्थ, जाँघ, घुटने, उदर, कटि, नाभि और पिण्डलियों में रहता है। व्यान की स्थिति श्रोत्र, नेत्र, कन्धे, घुटने और कण्ठ आदि में है। उदान दोनों हाथों और दोनों पांवों में तथा समान-समान समूचे शरीर में व्याप्त रहता है। नाग आदि पंच उपवायुओं की स्थिति चर्म, अस्थि आदि में होती है।

प्राणवायु से उच्छ्वास लेना, विश्वास छोड़ना तथा खांसना आदि कार्य होते हैं। अपान के द्वारा मल, मूत्रादि का त्याग-कार्य सम्पन्न होता है। समान वायु समूचे शरीर को समान अवस्था में रखता है। उदान वायु ऊर्ध्वगामी रहता और व्यान वायु ध्वनि व्यंजक होता है।

नाग नामक उपवायु का कार्य उकार लाना और वमन कराना है। कूर्म का कार्य नेत्र खोलना और बन्द करना तथा कृकर का कार्य भूख-प्यास उत्पन्न करना है। देवदत्त से तन्द्रा और आलस्य आने लगता है तथा धनंजय वायु शरीर की शोभा आदि का सम्पादन करता है।

योगाचार्यों के अनुसार मनुष्य के शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ होती हैं। उन सब में तीन नाड़ियाँ प्रधान हैं—इडा, पिंगला और सुषुम्ना। इनमें भी सुषुम्ना सर्व श्रेष्ठ मानी जाती है। इडा नाड़ी की स्थिति बाँयी नासा तक और पिंगला की स्थिति दाँयी नासा तक

है। सुषुम्ना दोनों के मध्य में है जो कि कन्द स्थान से मस्तक तक गई है।

विज्ञ आचार्यों ने इडा नाड़ी से श्वास खींचने और पिंगला से छोड़ने को अधिक उपयोगी बताया है। सभी नाड़ियों के शोधन से शरीर का प्रमाद दूर होकर चित्त में प्रसन्नता उत्पन्न होती है, जो कि सभी प्रकार की साधना में आवश्यक है।

नाड़ियों के शोधन की क्रिया कुछ कठिन नहीं है। बाँयी नासा से श्वास खीचें और दाँयी नासा से निकाल दें। फिर दाँयी नासा से खींचकर बाँयी से निकालें। इस प्रकार व्युत्क्रम श्वास खींचने और छोड़ने का अभ्यास करें, जिससे कि उसमें तालबद्धता की प्रतीति होने लगे। यह प्रतीति तभी होगी, जबकि श्वास खींचने और छोड़ने का क्रम निरन्तर होता रहे और उसके समय में समानता हो।

तालबद्धता युक्त यह नाड़ी-शोधन प्राणायाम बहुत समय-साध्य नहीं है। यदि पाँच-पाँच मिनट भी अभ्यास किया जाय तो शीघ्र ही सिद्धि हो जाती है। जब यह सुलभ हो जाय तब रेच, पूरक, कुम्भक का अभ्यास किया जाना चाहिए।

शरीरस्थ वायु को बाहर निकाल कर बाहर ही रोक दे तो वह बाह्य कुम्भक कहा जायगा। परन्तु बाहर से श्वास खींच कर भीतर भर लेना ही आन्तरिक कुम्भक हैं। अवश्य ही कुम्भक की सिद्धि अभ्यास से होती है, किन्तु मन लगाया जाय तो अभ्यास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी सम्पन्नता में कोई भागीरथ प्रयत्न करना पड़े।

प्राणायाम के अभ्यास की हम एक सामान्य विधि बता देना उचित समझते हैं। बांयी नासा से श्वास खींच कर भीतर रोकिये और फिर उसे दांयी नासा से निकाल दीजिए। इसमें श्वास खींचने और निकालने में गति के समय में समानता होनी चाहिए तथा भीतर रोकने का समय दुगुना या चौगुना तक भी हो सकता है।

गायत्री-साधना के साथ प्राणायाम का योग बहुत ही महत्वपूर्ण हो सकता है। वस्तुतः देखा जाय तो गायत्री योग की सिद्धि में प्राणायाम का भी कुछ सहयोग रहना उचित है। प्राणायाम के साथ किया जाने वाला मन्त्र जप सामान्य जप से सहस्र गुणा श्रेष्ठ और उपयोगी हो सकता है।

प्राणायाम के साथ जो जप किया जाता है, वह मानसिक होता है, इसलिए उसके सद्यः फलदायक होने में कोई सन्देह नहीं रहता। आसन पर बैठकर सुखासन लगाइये और बांयी नासिका से प्राणवायु को खींचिये। साथ ही गायत्री मन्त्र के मानसिक जप के साथ उसके अर्थ पर भी विचार करते चलिये। फिर देखिये कि आपको कितनी शीघ्रता से सफलता प्राप्त होती है।

योगाचार्यों ने शरीर में कुण्डलिनी शक्ति की स्थिति बतायी है, जिसके जाग्रत् होने पर साधक अपूर्व शक्ति, अद्भुत चमत्कार और दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है। उस समय कुण्डलिनी शरीरस्थ चक्रों का वेधन करती हुई सहस्रार तक पहुँचती और परमात्मा शिव से मिलन को प्राप्त होती है। गायत्री मन्त्र के द्वारा इस स्थिति का उत्पन्न होना कोई कठिन कार्य नही वरन् अष्टाङ्ग योगाभ्यास की अपेक्षा सरल ही है।

कुण्डलिनी का प्रसंग आया है तो उसके विषय में कुछ स्पष्ट बताना भी उचित होगा। शरीर में छः सूक्ष्म चक्रों की स्थिति मानी गई है, जिनमें (१) मूलाधार चक्र, (२) स्वाधिष्ठान चक्र, (३) मणिपूर चक्र, (४) अनाहत चक्र, (५) विशुद्ध चक्र, और (६) आज्ञा चक्र। सबसे ऊपर सहस्रार है।

मूलाधार चक्र की स्थिति जननेन्द्रिय से दो अंगुल ऊपर और गुदा से दो अंगुल नीचे है। यह चार दल का चतुष्कोण चक्र पृथिवी तत्व से युक्त माना गया है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय नासिका और कर्मेन्द्रिय गुदा है। इसकी पंखुड़ियों का मुख बन्द और नीचे की ओर होता है। परन्तु

कुण्डलिनी के जाग्रत होने पर ऊपर की ओर खुल जाता है। इसके देवता चतुर्भुज ब्रह्मा हैं।

स्वाधिष्ठान चक्र की स्थिति सुषुम्ना नाड़ी के अन्तर्गत चित्रणी नाड़ी में मूलाधार चक्र के ऊपर तथा पेड़ के सामने है। यह विद्युत के समान चमकता हुआ सिन्दूरिया वर्ण का षट् दल चक्र है। इसका तत्व वरुण अथवा जल है। उसके देवता विष्णु माने जाते हैं।

मणिपूर चक्र की स्थिति स्वाधिष्ठान चक्र से ऊपर नाभि मूल में है। इसके दश दल हैं, वर्ण मेघ के समान नीला और बीज अग्नि है। उसके देवता भगवान् रुद्र माने गये हैं। इसका यन्त्र त्रिकोण कहा गया है। इस चक्र की सिद्धि से सरस्वतीजी की कृपा प्राप्त होती और निर्माण पालन एवं संहार की सामर्थ्य प्राप्त होती है।

अनाहत चक्र की स्थिर मणिपूर चक्र से ऊपर हृदय में है। यह बाहर दलों से युक्त एवं अरुण वर्ण का है इसका तत्व वायु और देवता ईशान अथवा ईश्वर है। इस चक्र को शब्द ब्रह्म रूप ओंकार का स्थान समझना चाहिए। इसकी सिद्धि होने पर साधक के अन्तर्नेत्र खुल जाते और वह मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर होता जाता है।

विशुद्ध चक्र की स्थिति कण्ठ कूप में मानी गई है। इसके सोलह दल हैं और चक्र के मध्य में पूर्ण चन्द्र के समाम गोल आकाश मंडल है। आकाश तत्व का बीज हकार है इस चक्र के देवता सदाशिव माने जाते हैं। इसकी सिद्धि होने पर साधक के ज्ञान नेत्र खुल जाते हैं।

आज्ञाचक्र की स्थिति भौंहों के मध्य है। यह दो दल का है, जिनका वर्ण श्वेत है। इसका तत्व यह है और तत्व बीज ओंकार माना गया है। इस चक्र के देवता शिव हैं, जिनका वर्ण श्वेत, तीन नेत्र और दो भुजाएँ हैं। इसकी सिद्धि से साधक में सब प्रकार का सामर्थ्य भर जाता है। जब इस चक्र का भेदन हो जाता है तब कुण्डलिनी शक्ति अवरोध-रहित होकर सहस्रार कमल में परम शिव से ऐक्य स्थापित कर लेती है।

अब कुण्डलिनी शक्ति के विषय में विचार किया जाता है। योगचूडामण्युपनिषद् में उसके विषय में कहा गया है कि कुण्डलिनी शक्ति आठ कुण्डलों में व्याप्त हुई कन्द के ऊर्ध्व भाग में शयन करती है। उसके द्वारा ब्रह्म द्वार सदा ढका रहता है। जिस ब्रह्म द्वार से पाप-रहित होकर जाना पड़ता है, उसके मुख को ढक कर यह परमेश्वरी शक्ति सोई हुई रहती है। जब वह वह्नि योग से जाग्रत् होती है तब मन और प्राण के सहित सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर सुई के समान ऊपर की ओर चढ़ती है। जिस प्रकार कुन्जी के द्वारा घर का द्वार खोला जाता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा मोक्ष-मार्ग का वेधन करना चाहिए।

कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत् होने पर उसकी जो गति-विधि होती है, उस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि रजोगुण से उत्पन्न ब्रह्मग्रन्थि को भेद कर यह कुण्डलिनी शक्ति सुषुम्न के भीतर विद्युत्-रेखा के समान चढ़ती है। यह शीघ्र ही हृदयस्त विष्णु ग्रन्थि को प्राप्त होती हुई और भी ऊपर अर्थात् आज्ञा-चक्र तक पहुँचती हुई रुद्र ग्रन्थि को प्राप्त होती है। वहाँ से भौंहों के मध्य स्थान का भेदन करती हुई वह चन्द्रमा के स्थान में जा पहुँचती है, जहाँ कि सोलह पंखुरियों वाला अनाहत चक्र स्थित है। यहां पहुँच कर यह चन्द्रमा से उत्पन्न द्रव को सोख लेती है तथा प्राणवायु के वेग से रक्त और पित्त का ग्रहण सूर्य कर लेता है।

जब चन्द्र मण्डल में जाकर यह वहाँ के द्रव पदार्थ को सोख कर उष्ण कर देती है, तब वहाँ शीतलता कैसे रह सकती है? यह चन्द्रमा के शुक्ल (शीत) रूप को तप्त कर देती और क्षुब्ध होती हुई ऊपर चढ़ती है। इसके प्रभाव से, जो चित्त पहिले बाह्य पदार्थों में संलग्न रहता था, वह परमार्थ में लग कर आत्मानन्द का उपभोग करने लगता है। इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति को प्राप्त होकर शिव के साथ मिलती और उसी के साथ लय को प्राप्त हो जाती

है। इससे अधोभाग का रज और ऊर्ध्व भाग का शुक्ल मिलकर शिव में लीन हो जाते हैं तथा प्राण और अपान भी इन्हीं में लीन हो जाते हैं।

इस प्रकार कुण्डलिनी शक्ति षठचक्रों को भेद कर ऊपर जाती है तभी साधक को मोक्ष मिल जाता है। इन चक्रों की आकृतियाँ भिन्न होती हैं—कोई चतुष्कोण है, कोई त्रिकोण तो कोई षट्कोण, कोई चन्द्राकार है। वस्तुतः यह चक्र एक प्रकार की सूक्ष्म ग्रन्थियां हैं, जिन्हें आध्यात्मिक भाषा में पद्म-दल कहा जाता है। उनकी पृथक्-पृथक् देव शक्तियाँ हैं और पृथक् पृथक् ही तत्व हैं। पंच तत्वों मे गुणों में विभिन्नता है, इसलिए चक्रों के गुण भी समान नहीं होते।

प्राणायाम के अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण सम्भव होता है। परन्तु, अभ्यास के परिपक्व होने पर कुम्भक को जो सिद्धि हो सकती है, वही उस शक्ति को जगाने का प्रभावशाली उपाय है। उसके साथ गायत्री मन्त्र का मौन जप भी किया जाय तो उसके परिणाम शीघ्र ही प्रत्यक्ष होने लगते हैं।

कुम्भकों में चार प्रकार के कुम्भक प्रमुख हैं—सूर्यभेदी, उज्जायी शीतली और भस्त्रिका। आसन लगाकर दाँयी नासिका से बाह्य वायु को शनैः शनैः खींच कर भीतर भरे और जब तक रोक सके रोके तथा फिर वाम नासिका से रेचन कर दे। इसके अभ्यास से अनेक लाभ होते हैं। वात दोषों और कृमि दोषों को दूर करने में सहायक होता है। यह सूर्यभेदी की क्रिया है।

उज्जायी कुम्भक में मुख बन्द करके दोनों नासिकाओं से वायु को इस प्रकार खींचते हैं कि वह शब्द करती हुई कण्ठ से हृदय पर्यन्त भर जाय। तब उस वायु को जितनी देर तक भीतर रोक सकें उतनी देर रोके और फिर बांयी नासा से निकाल दे। इससे कण्ठ के कफादि विकार, मस्तिष्क की उष्णता तथा अनेक व्याधियाँ दूर हो जाती हैं।

शीतली कुम्भक में वायु को जिह्वा द्वारा धीरे-धीरे खींचते हैं। जिह्वा द्वारा वायु खींचने में मुख के ओठों को कौए की चोंच (काफी

मुद्रा) के समान बना लेते हैं और वायु के शरीर में भरने पर रोक लेते हैं। जब कुम्भक करने में कठिनाई का अनुभव होने लगे तब नासा छिद्रों से वायु को धीरे-धीरे निकाल देते हैं। यह कुम्भक गुल्म, प्लीहा, पित्त ज्वर, तृषा आदि को दूर करता है।

भस्त्रिका कुम्भक में मुख को बन्द करके भीतर की वायु का रेचन करे और फिर बाहर से वायु को इस प्रकार खींचे कि उसका स्पर्श कण्ठ, तालु और कपाल को भी अनुभव होने लगे। फिर उसे बाहर निकाले और पुनः खींचे। इस प्रकार वायु को बार-बार बाहर निकालना और खींचना चाहिए। जैसे लोहार की भाथी चलती है वैसे ही लक्षण इस स्थिति में होते हैं। जब थकान का अनुभव होने लगे तब दांयी नासा से पूरक करके और फिर कुम्भक और बांयी नासा से रेचक करे। इनके अभ्यास से कण्ठाप्रदाह दूर होता और शरीर की अग्नि तीव्र होती है। कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बहुत प्रभावकारी है।

इस प्रकार किसी भी साधना में यदि प्राणायाम का समावेश किया जाय तो साधना शीघ्र ही फलादायिनी हो सकती है। एक अश्व-शक्ति की विद्युत मोटर जितना भार वहन करती है, उससे दुगुना भार दो अश्व-शक्ति की मोटर वहन करेगी। एक तो गायत्री मन्त्र ही स्वयं शक्तिशाली है, दूसरे, उसके साथ यदि कोई अन्य अत्यन्त प्रभावशाली प्रक्रिया मिल जाती है तो उन दोनों की शक्ति मिलकर कितना फल दिखा सकती है, यह अनुमान का ही विषय है।

कोई भी यौगिक प्रक्रिया स्वयं में जितनी शक्ति-सामर्थ्य रखती है, उसी के अनुरूप फल भी प्रदर्शित करेगी। परन्तु यदि उसे किसी अन्य शक्ति की सहायता मिल जाय तो, उसका फल भी उतना ही होगा, जितनी कि दोनों शक्तियों की सम्मिलित कार्य क्षमता का हो सकता है।

यदि गायत्री मन्त्र का उपासक अपने उपासना-क्रम में उक्त प्रक्रियाओं में से किसी भी प्रक्रिया को समाविष्ट करले और दृढ़तापूर्वक उसे करता चला जाय तो हो सकता है कि वह कुछ समय के अभ्यास से ही अपने लक्ष्य में सफलता प्राप्त करले। इसलिए मुमुक्षुजनों को इसका अवलम्बन करके श्रेय मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहिए।

जाबालदर्शनोपनिषद् ने मोक्ष-प्राप्ति और कुण्डलिनी जागृति का एक प्रशस्त उपाय बताते हुए कहा है—'आसन लगाकर मन को एकाग्र करें और ओंकार (अथवा गायत्री) का जप करते हुए अपान वायु को धीरे-धीरे ऊपर उठावे तथा कान आदि को दोनों हाथों से दबाये रहे। ऊपर की सभी इन्द्रियों को इस प्रकार ढककर वायु को इस प्रकार तब तक रोके रहे, जब तक कि आनन्दामृत की अनुभूति न होने लगे। ऐसा करने से प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश कर जाता है। तब सबसे पहले शंख ध्वनि के समान नाद सुनाई देने लगता है, जो कि बाद में मेघ गर्जन के समान होने लगता है। फिर जब वायु मस्तक के मध्य में अवस्थित होता है, तब पर्वत से गिरने वाले जरने के समान कल-कल शब्द ध्वनि होती है। ऐसा होने पर योगी को अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव होता है, क्योंकि उस समय वह आत्मा से साक्षात्कार करने लगता है। उस समय आत्म तत्व का भले प्रकार से ज्ञान होने के कारण संसार-बन्धनों से मुक्ति मिल जाती है।

गुदा और उपस्थ की मध्यवर्तिनी नाड़ी को सींवनी कहते हैं। क्योंकि उसी के द्वारा शरीर के दो भाग परस्पर में मिलते हैं। उसी सीवनी को अपने दोनों पार्श्वों की ओर दबाकर स्थिर भाव से बैठे और घुटनों के नीचे की सन्धि में त्र्यम्बक संज्ञक ज्योतिर्लिंग की भावना करे। इसके साथ ही भगवती सरस्वती और गणपति का ध्यान करे। फिर बिन्दुमय ओंकार का जप करते हुए उपस्थ की नली के छेद से, आगे की ओर बाह्य वायु को खींच कर मूलाधार के मध्य में स्थित करे। वहाँ वायु को रोके रखने से वहाँ की अग्नि प्रदीप्त होकर कुण्डलिनी शक्ति पर

चढ़ जाती है। तब वायु उस (कुण्डलिनी युक्त) अग्नि को साथ लेकर सुषुम्ना मार्ग से ऊपर चढ़ने लगता है। इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करने पर वायु को जीता जा सकता है।

इस क्रिया में ओंकार योग आवश्यक माना गया है। गायत्री मंत्र के आदि में भी ओंकार ही, इसलिये गायत्री मन्त्र का समावेश करते हुये इस क्रिया का करना अधिक हितकर रह सकता है। क्योंकि इसमें सरस्वती है तो गायत्री मन्त्र भी वाक् शक्ति पर ही आधारित है। इस प्रकार सरस्वती और गायत्री में अभिन्नता प्रतिपादित होने के कारण गायत्री मन्त्र का अर्थ सहित विचार इस क्रिया को अधिक प्रखर बना सकता है।

गणपति का ध्यान करने के निर्देश में भी एक सबल रहस्य है। गणपति बुद्धि के स्वामी हैं और अपने साधक को शुभ बुद्धि प्रदान करते हैं। गायत्री मन्त्र में भी 'धीमहि' से ध्यान करते हुए और 'धियो यो नः प्रचोदयात्' से बुद्धि के शुभ कर्मों में प्रेरणा की याचना की गई है। इस प्रकार गणपति के ध्यान-निर्देश का पालन करते हुए उसके साथ गायत्री मन्त्र का मौन जप करते रहना शीघ्र फलकारी सिद्ध हो सकता है।

योग का पाँचवा अङ्ग 'प्रत्याहार' है। यह योग-क्रियाओं में ही नहीं, सभी प्रकार की उपासनाओं में आवश्यक होता है। क्योंकि प्रत्याहार का अभिप्राय इन्द्रियों का अपने विषयों से असम्बद्ध होकर (हटकर) चित्त के स्वरूप में तदानुसार हो जाना है, यथा—''स्वविषयासम्प्रयोगे चित्त स्वरूपानुसार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार'' (योग दर्शन २।५४) अर्थात् —अपने विषयों से असम्प्रयोग अथवा विमुख होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना ही प्रत्याहार है।

जब यम, नियम, आसन, प्राणायाम की क्रियाओं से चित्त शुद्ध होकर बाहरी विषयों से विरक्त हो जाता है, तब उसके समाहित होने

पर इन्द्रियां अन्तर्मुखी होकर उसी के समान कार्य करने लगती हैं और चित्त की चंचलता नष्ट होने पर इन्द्रियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही प्रत्याहार कहलाता है। सार रूप में प्रत्याहार का अर्थ इन्द्रियों का विषयों से विमुख होना ही है।

जैसे मनुष्य के चलने, बैठने आदि पर उसकी छाया भी चलती या बैठती दिखाई देती है, वेसे ही चित्त के आत्मतत्व के अभिमुख होने पर इन्द्रियाँ भी बाह्य विषयों से विमुख हो जाती हैं। इस स्थिति में बाह्य विषयों से विमुखता को प्राप्त हुआ चित्त तो आत्म तत्व के अभिमुख होता है, किन्तु इन्द्रियाँ केवल बाह्य विषयों से ही विमुख होती हैं, चित्त के समान आत्मतत्व के अभिमुख नहीं होती।

कठोपनिषद् का कथन है कि 'स्वयम्भू ने इन्द्रिय-छिद्रों को बाहर की ओर छेदा है, इसलिए मनुष्य बाहर की ओर ही देख पाता है, भीतर की ओर नहीं देख पाता। परन्तु कोई-कोई बिरला धीर पुरुष ऐसा भी होता है जो अमृत की कामना करता हुआ, इन्द्रियों को बन्द करके प्रत्याहार के द्वारा अन्तरात्मा के दर्शन में सफल हो जाता है।

योगतत्त्वोपनिषत्कार प्रत्याहार का एक सामान्य स्वरूप बताते हैं जो कि इस प्रकार है—

एक बारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवल कुम्भकम्।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥

अर्थात्—दिन मे एक बार केवल कुम्भक नित्यप्रति करे और कुम्भक में अवस्थित रहकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लावे, यही प्रत्याहार कहलाता है।

उक्त श्लोक में केवल कुम्भक का वर्णन हुआ है, इसलिये प्रसङ्ग वश इस पर भी प्रकाश डालना उचित होगा। अनेक शास्त्रकारों ने कुम्भक के दो भेद माने हैं—(१) सहित कुम्भक, और (२) केवल कुम्भक। जो कुम्भक रेचक और पूरक के साथ किया जाय, वह 'सहित'

कहा जाता है। जब तक केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध नहीं होता, तब तक केवल कुम्भक किया जाना आवश्यक है।

केवल कुम्भक में रेचक और पूरक को छोड़कर कुम्भक किया जाता है। इसकी सिद्धि इस प्रकार होती है कि बाह्य और आन्तरिक दोनों वायुओं को यथा स्नान रहने दे अर्थात् न तो बाहर से वायु खींचे और न भीतर से बाहर निकाले। इस प्रकार जब तक वायु को रोक सके तब तक रोके रहे। यही केवल कुम्भक है।

शाण्डिल्योपनिषत् ने केवल कुम्भक की महिमा पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट रूप से कहा—'केवल कुम्भ के सिद्धे त्रिषुलोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवल कुम्भकात् कुण्डलिनी बोधो जायते' अर्थात्—'जब केवल कुम्भक सिद्ध हो जाता है, तब साधक को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता। केवल कुम्भक का अभ्यास सिद्ध होने से कुण्डलिनी का जागरण होता है।'

अब पुनः प्रत्याहार के विषय पर आते हैं। स्वभाव से विषयों में विचरण करने वाली इन्द्रियों को बलपूर्वक विषयों से लौटा लाना ही प्रत्याहार के अन्तर्गत आता है। जाबाल दर्शनोपनिषत् ने प्रत्याहार की अन्य प्रकार से ही व्याख्या की है—

यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः।
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः॥
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम्।
तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते॥
अथवा नित्य कर्माणि ब्रह्माराधन बुद्धितः॥
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते॥

अर्थात् जो कुछ भी दिखाई देता है वह ब्रह्म ही है, ऐसी भावना करके चित्त को ब्रह्म में एकाग्र कर लेना ही ब्रह्मज्ञानियों ने प्रत्याहार बतलाया है। मरण काल तक मनुष्य जो कुछ भी शुद्ध अथवा दूषित कर्म करता है, उन सब कर्मों को वह परमात्मा को समर्पित कर

दे, यह भी प्रत्याहार कहा जाता है। नित्य कर्मों या आकांक्षित कर्मों को केवल परमात्मा के निमित्त समर्पित कर देना भी प्रत्याहार ही है।

इस प्रकार प्रत्याहार के अनेक अर्थ निकलते हैं और सभी अर्थ उपासकों के लिए कल्याणकारी होने के कारण पालन करने के योग्य हैं। गायत्री-साधक के लिए भी प्रत्याहार उपयोगी और कल्याणकारी है। क्योंकि 'ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्' (यो द० २।५५) अर्थात् 'प्रत्याहार होन से इन्द्रियों की परमवश्यता हो जाती है।

यदि इन्द्रियाँ अपने विषयों से पृथक् हो जाती हैं, तब उस स्थिति को इन्द्रिय जप करना ही कहते हैं। परन्तु, इसकी सम्भावना तभी है जबकि चित्त का पूर्ण रूप से संयम हो जाय उसमें चंचलता नाम मात्र को भी न रहे। इस प्रकार इन्द्रियों का निरोध हो जाना ही इन्द्रियों की परमवश्यता मानी जाती है।

गायत्री मन्त्र के उपासक को भी इन्द्रिय जप का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि इन्द्रिय जय के बिना कोई साधना सफल नहीं होती, इन्द्रियों के न जीते जाने से काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि के रूप में विभिन्न वासनाएँ उदित होकर मनुष्य को धर्म-च्युत और पथ-भ्रष्ट कर देती हैं। इसलिए सब प्रकार के साधक को यह बहुत आवश्यक है। जो साधक इसकी उपेक्षा करता है, वे लक्ष्य को प्राप्त नहीं होते।

गायत्री मन्त्र साधकों के लिए ज्ञातव्य

मन्त्रयोग के षोडश अंग

मन्त्र में निहित शक्ति का जागरण केवल उसके जप से ही नहीं हो जाता वरन् उसके लिए शास्त्रकारों और अनुभवी विज्ञजनों ने कुछ विधि–विधान निश्चित किये हैं। उनका कार्य रूप में पालन होने पर ही सफलता मिल सकती है।

मन्त्र-सिद्धि अथवा शक्ति-जागरण के लिए सोलह अङ्गों का निर्देश किया जाता है यथा—(१) भक्ति, (२) शौच, (३) आसन, (४) मुद्रा, (५) आचार, (६) पंचांग सेवन, (७) दिव्यदेश सेवन (८) तर्पण, (९) यज्ञ, (१०) बलि, (११) योग, (१२) जप, (१३) प्राण क्रिया (१४) धारणा (१५) ध्यान और (१६) समाधि। मन्त्र साधकों के उपयोगार्थ इन सबका पृथक्-पृथक् विवेचन समाधि किया जाता है।

भक्ति और उसका स्वरूप

भक्ति का अर्थ है परम अनुराण अथवा आत्यंतिक प्रेम। जिसके प्रति अनुराग अथवा प्रेम नहीं, उसके प्रति भक्ति हो ही नहीं सकती। 'भक्तिरसायन' में भक्ति की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

द्रवस्य भगवद्धर्माद् धारावहितां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिभंक्तिरित्यभि धीयते।।

अर्थात्—'भगवान् के गुनगान का श्रवणकर जब भक्ति गुण का विकास हो और मन द्रवीभूत हो जाय तब भगवान् के प्रति अविछिन्न तैलधारा के समान जिस चिन्तन धारा में साधक लीन होजाता है, उसी को भक्ति कहते हैं।'

श्रीमद्भागवत के अनुसार 'भगवान् की महिमा और गुणगान सुनते ही समुद्र की ओर प्रस्थान करती हुई गंगा जी की अविछिन्न धारा के समान जब चित्त की निष्काम अविछिन्न गति हो जाती है, वही भक्ति है।'

भगवद्गीता में भक्ति का विवेचन करते हुए भगवान श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं—

भक्त्या त्वनन्यथाशक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप।।

अर्थात्—हे श्रेष्ठ तप वाले अर्जुन! अनन्य भक्ति करने से ही

में इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने और तत्व से जानने के लिये तथा एकीभाव से प्रवेश में भी शक्य हूँ।

अभिप्राय यह है कि भगवान का तत्व ज्ञान, साक्षात्कार और उनमें प्रवेश (अर्थात् भगवान् में लय होना) करना सब कुछ अनन्य भक्ति से ही सम्भव है।

इस प्रकार भक्ति के बिना किसी भी मन्त्र की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए साधक को सर्वप्रथम भक्ति का ही आश्रय लेना चाहिए क्योंकि जिसमें भक्ति भाव नहीं, उसे किसी प्रकार की भी साधना का अधिकार नहीं है। मन्त्र-सिद्धि के लिये भक्ति उसका प्रथम सोपान है और गायत्री-उपासकों को भी उसका आश्रय लेना आवश्यक हैं।

शौच का विशेष महत्व

शौच का अर्थ शुद्धि है। किसी प्रकार के साधक के लिए मन और शरीर दोनों की पवित्रता बनाये रखना आवश्यक है। इसीलिए आचार्यों ने पवित्रता को मनुष्यता का और अपवित्रता को पशुता का लक्षण माना है।

स्वच्छता के तिए एक वैज्ञानिक पक्ष भी है—मनुष्य से शरीर का अन्नमय कोश, द्रव और गैस से बना होता है। भीतर से अत्यन्त सूक्ष्म अणु निरन्तर बाहर निकलते रहते हैं। शरीर एक फुब्बारे के समान होता है, जिससे निरन्तर द्रव्य-कणों को भी ग्रहण करता रहता है। इस प्रकार अन्नमय कोश के सूक्ष्म अणु और प्राणमय कोश की जीवन तरगें अन्य व्यक्तियों को बाह्य और आन्तरिक दोनों ही भागों को प्रभावित करती रहती हैं। इसलिये अन्नमय कोष को बाह्य उपचारों से और प्राणमय कोष को प्राणवायु के नियमन द्वारा शुद्ध किया जा सकता।

शास्त्रों में शरीर शुद्धि के लिए अनेक विधियां निर्दिष्ट हुई हैं। अनुभवी पुरुषों ने भी ससय-समय पर शौच सम्बन्धी बहुत से नियम बनाये योगाचार्यों ने धौति, वस्ति, नेति, नौल, कपालभाति, त्राटक आदि विधानों के द्वारा शरीर शोधन की क्रियायें निश्चित कीं तो सामान्य साधकों ने स्नानादि की क्रियायों का आश्रय लिया।

शरीर शोधन के विषय में अन्यत्र अधिक प्रकाश डाला गया है। उनमें जो विधि सुविधाजनक प्रतीत हो, उसका पालन करते हुए शरीर और मन को पूर्ण रूप से स्वच्छ रखना आवश्यक है।

स्थिरता के लिये आसन की अपेक्षा

आसन का अर्थ स्थिति है। जिस स्थिति में ठीक प्रकार से (सुखपूर्वक) बैठा जा सके वही आसन मन्त्र जप के अभ्यास में श्रेष्ठ माना जाता है।

आसन का एक अभिप्राय बिछावन से भी है। विभिन्न प्रकार के प्रयोगों में विभिन्न प्रकार के बिछाने वाले आसनों का प्रयोग किया जाता है। उन आसनों में ऊन, कुशा, मृग-छाला या रेशम आदि के आसन प्रशस्त माने गये हैं। ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार—

काम्याथ कम्बलं चैव श्रेष्ठं च रक्त कम्बलम्।
कुशासने मन्त्रसिद्धिर्नात्रकार्या विचारणा ॥

अर्थात्—काम्य कर्म में कम्बल का शासन उपयुक्त है, कम्बलों में लाल कम्बल ही अत्यन्त श्रेष्ठ है। कुशा के आसन पर बैठ कर साधना करने से मन्त्र सिद्धि अवश्य होती है।

नारद पंचरात्र ने वर्जित आसनों पर भी प्रकाश डाला है। यदि उनका प्रयोग किया जाय तो हानि उठानी पड़ती है। यथा—

वंशासने तु दारिद्रयं पाषाणे व्याधिः संभवः।
धरण्यां दुःख सम्भूति दौर्भाग्यं छिद्रिदारुजे ॥
तृणेधने यशोद्धानिः पल्लवे चित्तविभ्रमः ॥

अर्थात् बांस के आसन पर बैठकर जप करने से दरिद्रता पत्थर के आसन पर बैठकर करने से व्याधि, पृथिवी पर बैठकर करने से दुःख, छिद्रयुक्त काष्ठ पर बैठकर करने से दुर्भाग्य, तृण के आसन या तृणाच्छादित भूमि पर करने से धन और यश की हानि तथा पत्ती पर बैठकर जप करने से चित्त-भ्रम हो सकता है।

आसन का उद्देश्य यह है कि मन्त्र जप के द्वारा जो शक्ति उपार्जित की जाय, वह साधक के शरीर से निकलकर धरती में प्रवाहित न हो जाय। क्योंकि गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तानुसार पृथिवी प्रत्येक पार्थिव वस्तु को तो खींचती ही है, सम्भव है कि दिव्य शक्ति के आकर्षण में भी लग जाय। इसलिए विज्ञजनों ने ऐसी वस्तु का आसन बनाया जाना अधिक उपयोगी रहता है, जो कि असंक्रामक (नॉन कन्डक्टर) हो।

आप देखते हैं कि विद्युत की लाइन डालने वाले लोग विद्युत के प्रवाह को रोकने के लिए रेशम, रबड़, चीनी, लकड़ी आदि की माध्यम बनाकर प्रयोग करते हैं। जबकि लोहा, पीतल तांबा आदि धातुएं संक्रामक मानी जाती हैं और इनके द्वारा विद्युत-प्रवाह अपनी गति से प्रवाहित रहता है।

सरांश यह है कि साधना-काल में ऐसे ही आसनों का प्रयोग किया जाना चाहिए, जिन पर बैठने में सुविधा रहे और जो शास्त्र विधि के अनुकूल भी हों। कुश को वेद, शास्त्र, पुराण आदि सभी ने परम पवित्र माना है, इसलिए अनुकूल हो तो उसी का प्रयोग किया जाना चाहिए।

आवश्यकतानुसार मुद्राओं का प्रयोग

मुद्राएं दो प्रकार की हैं—(१) योग मुद्राएं; और (२) जप मुद्राएं योग मुद्राओं में खेचरी, विपरीतकरणी, शक्तिचालिनी, महामुद्रा

आदि अनेकों का वर्णन मिलता है। प्रसंगानुकुल न होने के कारण यहाँ उनका वर्णन अभीष्ट नहीं। जापक के लिए चौबीस प्रकार की मुद्राओं का निर्देश मिलता है, जो कि इस प्रकार हैं—

१. सुमुखम्—इन दोनों हाथों की उङ्गलियों को परस्पर में एक साथ मिला देते हैं।

२. सम्पुटम्—इसमें दोनों हाथों को फुलाकर परस्पर मिला लेना चाहिये।

३. विस्तृतम्—दोनों हाथों की हथेलियों को सामने की ओर रखने से यह मुद्रा बनती है।

४. विस्तृतम्—दोनों हाथों को कुछ दूरी पर रखते हुए उनकी उङ्गलियों को खुली रखें।

५. द्विमुखम्—दोनों हाथों कनिष्ठिका से कनिष्ठिका और अनामिका से अनामिका मिलावें।

६. त्रिमुखम्—इसमें दोनों हाथों की कनिष्ठिकाएँ, अनामिकाएँ और मध्यमाएँ तीनों ही अँगुलियाँ परस्पर मिलाई जाती हैं।

७. चतुर्मुखम्—त्रिमुखम् मुद्रा में मिलाई जाने वाली तीनों अँगुलियों के अतिरिक्त दोनों हाथो की तर्जनी अँगुलियाँ भी परस्पर मिला लें।

८. पंचमुखम्—इसमें दोनों हाथों की चारों अँगुलियाँ और अंगूठे भी परस्पर मिला लिये जाते है।

९. षण्मुखम्—इस मुद्रा में पंचमुखम् मुद्रा करके दोनों हाथों की कनिष्ठिकाएं खोल देनी चाहिए।

१०. अधोमुखम्—दोनों हाथों को उल्टे करके उनकी अंगुलियों को मोड़ लें और उन्हें मिलाकर नीचे की ओर करदें।

११. व्यापकांजलिकम्-इस प्रकार मिले हुए हाथों को शरीर की ओर घुमाकर सीधा कर देने से यह मुद्रा बनती है।

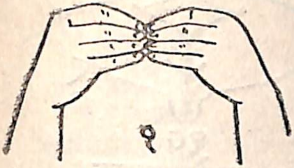

१

सुमुखम्

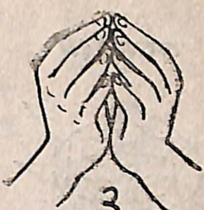

२

सम्पुटम्

३

विततम्

४

विस्तृतम्

५

द्विमुखम्

६

त्रिमुखम्

७

चतुर्मुखम्

८

पञ्चमुखम्

षण्मुखम्

९

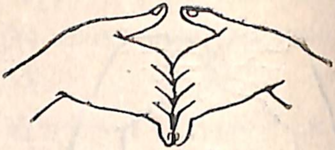

१०

अधोमुखम्

११

व्यापकाञ्जलिकम्

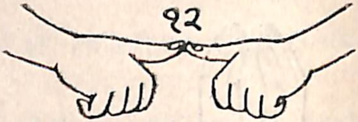

१२

शकटम्

१३

यमपाशम्

१४

ग्रन्थितम्

१५

उन्मुखोन्मुखम्

१६

प्रलम्बम्

१७

मुष्टिकम्

१८

मत्स्यः

१९

कूर्मः

२०

वराहकम्

२१ सिंहाक्रान्तम्

२२ महाक्रान्तम्

२३
मुदगरम्

२४
पल्लवम्

१२. शकटम्—दोनों हाथों को उल्टे करके, दोनों हाथों के अंगूठों को परस्पर मिलावें। इनमें तर्जनियाँ सीधी रखी जाती हैं और मुट्ठी बाँध ली जाती हैं।

१३. यमपाशम्—दोनों हाथों की तर्जनियों को बाँधकर, दोनों मुट्ठियों को भी बाँध लें।

१४. ग्रन्थितम्—दोनों हाथों की सभी अंगुलियों को परस्पर में गूँथ लेना चाहिए।

१५. उन्मुखोन्मुखम्—दोनों हाथों की अंगुलियां—अंगूठे परस्पर मिला लें। प्रथम बाँये हाथ पर दाँया हाथ रखें और फिर दाँये हाथ पर बाँया हाथ रखें।

१६. प्रलम्बम्—दोनों हाथों की अंगुलियों को कुछ मोड़ लें, फिर उन्हें उल्टा करके नीचे की ओर करलें।

१७ मुष्टिकम्—दोनों हाथों की मुट्ठियों को बाँधकर मिलावें परन्तु दोनों अंगूठों को ऊपर ही रखें।

१८. मत्स्यः—दोनों हाथों को पूरे खोलें दाँये हाथ की पीठ पर बाँये हाथ को उल्टा रखें। इसमें दोनों अंगूठे पृथक पृथक रखने चाहिए।

१९. कूर्म—बाँये हाथ को सीधा रखते हुए उसकी मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका को मोड़ें तथा दांए हाथ को उल्टा रख कर मध्यमा और अनामिका को उन तीनों अंगुलियों के नीचें रखें, बांयी तर्जनी पर दाँयी कनिष्ठका और बाँये अंगूठे पर दाँयी तर्जनी रखनी चाहिए।

२०. वराहकम्—दाँये हाथ की तर्जनी को बाँये हाथ के अंगूठे से मिलाकर फिर दोनों हाथों की अंगुलियों को परस्पर बांध लें।

२१. सिंहाक्रान्तम्—दोनों हाथों को कानों के पास ले जाय, उस समय दोनों हाथ खुले और हथेलियाँ सामने रहें।

२२. महाक्रान्तम्—दोनों हाथों की अंगुलियों को कानों के समीप रखना चाहिये।

२३. मुद्गरम्—दांये हाथ की मुट्ठियां बांध लें और बांये हाथ की हथेली पर दांयी कोहनी रखें।

२४. पल्लवम्—दांये हाथ की अंगुलियों को मुख के सामने हिलाने पर यह मुद्रा बनती है।

उपरोक्त सभी मुद्राऐं जप के पूर्व की हैं। जप के पश्चात् आठ मुद्राऐं की जाती हैं—(१) धेनु मुद्रा (२) ज्ञान मुद्रा, (३) वैराग्य मुद्रा (४) योनि मुद्रा, (५) शंख मुद्रा, (६) लिंग मुद्रा, (७) पद्म मुद्रा, और (८) निर्वाण मुद्रा। इनका वर्णन इस प्रकार है—

१. धेनु मुद्रा—दोनों हाथों की सभी अंगुलियों को परस्पर श्लिष्ट करें और फिर एक हाथ की कनिष्ठिका को दूसरे हाथ की अनामिका से सटावें। इस प्रकार अन्य हाथ की तर्जनी को अन्य हाथ की मध्यमा से श्लिष्ट कर दें। प्रकार गाय के चार स्तनों जैसी आकृति बन जाती है।

२. ज्ञान मुद्रा—दांये हाथ के अंगूठे और तर्जनी को हृदय पर विन्यस्त करे तथा बांये हाथ को बांयी जानु व मूर्द्धा पर रख लें।

३. वैराग्य मुद्रा—तर्जनी और अंगूठा दोनों को जानु के अन्त में निर्निष्टि करने से यह मुद्रा बनती है।

४. योनि मुद्रा—दोनों हाथों की कनिष्ठिका, अनामिका और मध्यमाओं को परस्पर बांधकर दोनों तर्जनियों को लम्बी कर, श्लिष्ट कर लें और अगूठों को परस्पर जोड़कर तर्जनियों को लम्बी कर, श्लिष्ट कर लें और अंगूठों को परस्पर जोड़कर तर्जनियों से सटा लें।

५. शंख मुद्रा—बांये अंगूठे को दांयी मुट्ठी के मध्य में दें और प्रसृत करें। मुट्ठी को सीधी कर दें तथा बांये हाथ की अंगुलियों को मिलाकर श्लिष्ट करें। यह शंख मुद्रा दांये अंगूठे से संस्पर्श करती करती हुई रहती है।

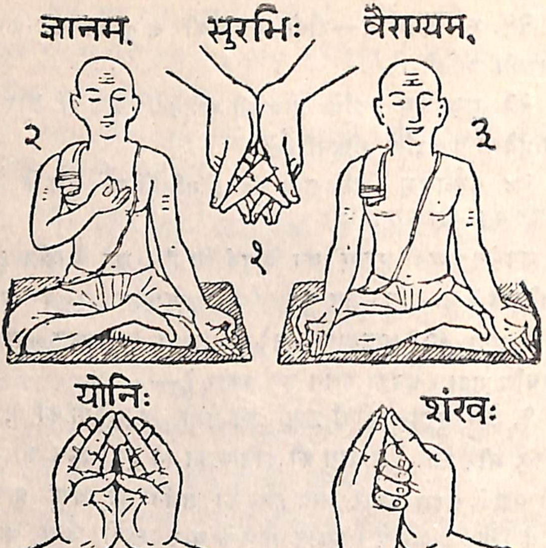
ज्ञानम.
सुरभिः
वैराग्यम.
२
१
३
योनिः
शंखः
४
५
लिङ्गम.
६
७
८
पङ्कजम.
निर्वाणम

६. लिंग मुद्रा—उच्छित दांये अँगूठे को बांये अंगूठे से बांध कर बांये हाथ की अंगुलियों को दांये हाय की अँगुलियों से बाँध लें।

७. पद्म मुद्रा—दोनों हाथों को सामने करके दोनों की ही अँगुलियों को संहत और प्रोन्नत करे तथा दोनों अंगूठों को तलान्त में मिलावें।

८. निर्वाण मुद्रा—बांये हाथ को अधोमुख करके उस पर दांये हाथ को उत्तान रखें और दोनों की अंगुलियों को मिला लें। फिर दोनों हाथों की मुट्ठी बनाकर कानों के पास ले जांय और दोनों तर्ज-नियों को ऊपर की ओर दिखावें।

यह सभी मुद्राएं कर्मकाण्ड के अन्तर्गत महत्वपूर्ण मानी जाती हैं। इनका प्रयोग एकान्त स्थान पर उपचार के समय करना चाहिए। किसी अन्य की उपस्थिति में करना वर्जित है। मन्त्र-सिद्धि में इनका प्रयोग उपयोगी माना जाता है।

मनुष्य की आत्मोन्नति का साधन श्रेष्ठ आचार

आचार का अर्थ आचरण से है। किसी भी उपासना की सिद्धि-असिद्धि साधक के आचरण पर निर्भर करती है। मनुस्मृति का कथन है-

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैव शूद्रताम्।
क्षत्रियात् जातमेवं तु विद्याद वैश्यात् तथैव च॥

अर्थात्—आचार के आधार पर ही शूद्र को ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाता है और ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। यही नियम क्षत्रिय और वैश्यों के विषय में समझना चाहिए।

इस प्रकार शास्त्रकारों ने आचार को असाधारण महत्व दिया है। यदि आचार श्रेष्ठ है तो वह मनुष्य संसार में पूज्य माना जाता है, जबकि बुरे आचार वाला श्रेष्ठ पुरुष भी समाज में निन्दा के योग्य

होता है। इसलिए साधक का कर्तव्य है कि वह शिष्ट आचार का पालन करे। इस विषय में अन्यत्र विस्तार से लिखा गया है।

साधना में पंचांग सेवन का महत्व

मन्त्र-साधना में अध्ययन, नाम स्मरण, स्तवन, कवच और हृदय यह पांच अंग विशिष्ट माने गए हैं। शास्त्रों के अध्ययन से अज्ञान एवं भ्रान्तियां दूर होकर स्थिर ज्ञान का प्रकाश होता है, जो कि साधक को यथार्थ मार्ग दर्शन में भी सहायक है। किन्हीं सद्‌गुरु से श्रेष्ठ शास्त्रों का उपदेश सुनना भी अध्ययन के ही समान है। इससे बुद्धि को अनुकूल निर्णय लेने में भी भारी सहायता मिलती है।

नाम-स्मरण सब प्रकार के पापों को दूर करने और परमानन्द प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध होता है। भगवान के नाम में वह शक्ति है कि उसके उच्चारण मात्र से सभी निकटस्थ बाधाएं दूर हो जाती हैं। उच्चारण के शब्द जहां तक पहुँच पाते हैं, वहाँ तक का वातावरण पूर्ण पवित्र हो जाता है।

परमात्मा के असंख्य नाम हैं, वे सभी उनके गुण, रूप, स्वभाव के अनुसार कहे गये हैं। जब नामों में जिन दिव्य शक्तियों का समावेश है, उन शक्तियों को सूर्य की उन किरणों के समान समझना चाहिए। जिनमें शक्ति बीज भरे हुए हैं। वे किरणें ही साधक को शक्ति-बीजों से सम्पन्न कर देती और मनोकामनाओं की पूर्ति में सहायक सिद्धि होती हैं।

भगवान के उन नामों का उच्चारण, कीर्तन अथवा मानसिक जपादि भी बड़े महत्वपूर्ण परिणाम प्रदर्शित करते हैं। इनके द्वारा अन्तरतम में प्रसुप्त चेतना का जागरण होकर साधक को सिद्धि में अपार शक्ति की प्राप्ति होती है।

स्तवन का अभिप्राय है इष्टदेव के गुणों का गान करना यह मंत्र साधना की एक सहायक प्रक्रिया मानी गई है। यदि इसका यथा स्थान

समावेश कर लिया जाय तो उसके फलस्वरूप इच्छित कामना शीघ्र पूरी हो सकती है।

स्तवन का एक पर्याय स्तुति भी है। इसमें एक ओर जहाँ इष्टदेव के नाम, गुण, रूप, कार्य आदि की प्रशंसा रहती है, वहाँ स्तोता जो कुछ आकांक्षा-याचना करता है, उसका भी वर्णन रहता है। इस प्रकार स्तवन से दुहरा लाभ हो सकता है—एक तो इष्टदेव को स्तुति के द्वारा प्रसन्न करना और दूसरा अपनी कामना को व्यक्त करना। जैसा कि गायत्री मन्त्र में पहले तो परमात्मा की शक्ति-सामर्थ्य का वर्णन और पश्चात् अपनी काम्य शुभ बुद्धि की प्रेरणा सम्बन्धी याचना या प्रार्थना समाविष्ट है।

कवच का अर्थ है बाह्य आक्रमणों से रक्षा करने का शासक्त साधन। जिस किसी वस्तु से अपने आघात योग्य अंगों का आच्छादन किया जा सके, वह वस्तु कवच कहलाती है।

प्राचीन काल में ऋषि-महर्षियों को आसुरी शक्तियों का सामना करना होता था। उस समय उनकी रक्षा के लिए मन्त्र शक्ति ही प्रस्तुत रहती थी। वे उन मन्त्रों को विभिन्न प्रकार के अंग-रक्षाकारी अक्षरों और शब्दों से सम्पुटित करके प्रभावकारी बना लेते थे। उन मन्त्र रूप कवचों के सामने आसुरी शक्तियों का टिकना असम्भव हो जाता था।

मन्त्र साधकों के साधना काल में भी अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। उन विघ्नों का निवारण भी मन्त्ररूप कवच के द्वारा सरलता से हो जाता है। भगवान् नारायण ने गायत्री कवच का इस प्रकार वर्णन किया है।

तत्पदं पातु मे पादौ जघे मे सवितुः पदम्।
वरेण्यं कटिदेशे तु नाभि भर्गस्यथैव च॥
देवस्य मे तद्धृदय धीमहीति च गल्ययोः।
धियः पदं च मे नेत्रे यः पदं मे ललाटकम्॥
नः पातु मे पदं मूर्ध्नि शिखायां मे प्रचोदयात्।

अर्थात्—'तत्' पद मेरे पादों की, 'सवितुः' पद जंघाओं की, 'वरेण्यम्' पद नाभि की, 'भर्ग' पद्र नाभि की, देवस्य' पद हृदय की, 'धीमहि' पद गालों की, 'धियः' पद नेत्रों की, 'यः' पद ललाट की, 'नः' पद मूर्धा की और प्रचोदयात्' पद शिखा की रक्षा करे।

इसी प्रकार से शास्त्रों में अन्य अनेक रक्षा-कवचों का वर्णन मिलता है। साधक को अपनी साधना के उपयुक्त रक्षा-कवच के धारण द्वारा शक्ति-संचय करना उचित और आवश्यक है।

पंचांग में पाँचवा अंग है हृदय। इसका आध्यात्मिक अर्थ है तत्व अथवा रहस्य। इसका अभिप्राय हुआ कि साधना के रहस्य को और तत्व को जानकर विवेकपूर्वक साधना आरम्भ करनी चाहिए।

हृदय में उपास्य और उपासना के तत्व का रहस्य छिपा रहता है। उसका ज्ञान होने पर साधक आश्चर्यजनक बुद्धि प्राप्त कर लेता है। गायत्री हृदय की निम्न पंक्तियां हृदय रूप से वरदान स्वरूप ही हैं—ॐतत्सवितुर्वरेण्यय नमः, ॐ तत्पूर्वाजयाय नमः, तत्प्रातरादित्याय नमः तत्प्रातरादित्य प्रतिष्ठायै नमः, अर्थात् 'ओंकार युक्त उन सविता देव को नमस्कार है, ओंकार युक्त उनसे पूर्व अजयात्मक देव को नमस्कार है, उन प्रातःकालीन आदित्य के लिए नमस्कार है और उन प्रातःकालीन आदित्य की प्रतिष्ठा के लिए नमस्कार है।

इस प्रकार गायत्री हृदय का पाठ भी साधक के लिए विशेष रूप से हितकर सिद्ध हो सकता है। इसलिए साधना में इसका समावेश रहना चाहिए।

दिव्यदेश सेवन से साधन में सफलता

शास्त्र वचन है कि जिस प्रकार गाय के पूरे शरीर में दूध विद्यमान रहता है, परन्तु वह केवल थनों से ही निकलता है, वैसे ही परमात्मा की शक्ति सर्वव्यापक होते हुए भी दिव्यदेशों के माध्यम से होती है। दिव्य देश सोलह माने गये हैं—'अग्नि, जल, लिंग यज्ञार्थ, भित्ति

चित्र मण्डल, विशिख, नित्य यन्त्र, भावयन्त्र पीठ, विग्रह, विभूति, नाभि हृदय और मूर्धा। इन स्थानों में पीठ बनाकर उपासना करने के कारण ही इन्हें दिव्य देश की सज्ञा दी गई है।

परन्तु इन दिव्य देशों के साधन के द्वारा स्थूल उपासना का ही भाव व्यक्त होता है। सूक्ष्म उपासकों को श्रेष्ठ स्थानों में निवास करते हुए ही उपासना करने से साधन में सफलता मिल सकती है—कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत हैं।

श्रद्धा का प्रतीक तर्पण

यद्यपि पितरों को तृप्त करना 'तर्पण' कहलाता है। अथववेद में भी तर्पण विषयक अनेक मन्त्र मिलते हैं। उनका उद्धरण देना यहाँ अभीष्ट नहीं। सभी वेदों में पितरों को सन्तुष्ट और प्रसन्न करने के निर्देश मिलते हैं।

यथार्थ में तो कृतज्ञता की भावना व्यक्त करना हो तर्पण का मुख्य उद्देश्य माना जाता है। सामान्य रूप से देखने वाले पर तर्पण जल-प्रदान की एक क्रिया मात्र है, परन्तु उसमें निहित भावना परलोक में पहुँचने में समर्थ हो जाती है। परन्तु जिस मन्त्र-जप में केवल भगवान् की प्राप्ति की आकांक्षा हो, उसमें अन्य उपचारों से कार्य लिया जाना चाहिए।

एक बात और सभी प्रकार के अनुष्ठानों का आरम्भ करते समय देवता, ऋषि, ब्राह्मण पितर आदि का भी पूजन किया जाता जाता है। वस्तुतः देव, ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, नाग, राक्षस, पिशाच, पक्षी, पशु जलचर आदि को पितर कहा जाता और उन्हें जलांजलि अर्पण की जाती है।

यज्ञों से तीर्थों का प्राकट्य

वेदों में यज्ञ की महिसा और अनुष्ठान विधि को विस्तार पूर्वक कहा गया है। यज्ञ से स्वास्थ्य, सुख, सम्पत्ति, सन्तान, स्त्री आदि सभी

कुछ प्राप्त हो सकता है। स्वर्ग की कामना वालों की स्वर्ग और मोक्ष के आकांक्षियों को मोक्ष की प्राप्ति भी यज्ञ के फल रूप में हो सकती है।

तीर्थों की उत्पत्ति के आधार भी यज्ञ थे। जहां बहुत अधिक संख्या में बड़े-बड़े यज्ञ होते थे, वही स्थान तीर्थ बन जाता था। प्रयोग काशी, कुरुक्षेत्र, नेमिषारण्य आदि क्षेत्रों में तीर्थों की उत्पत्ति के कारण यज्ञ ही थे।

जिस-जिस कामना से यज्ञ किये जाते हैं वह-वह कामना अवश्य पूर्ण होती है। इससे बुद्धि तीव्र होती और मानसिक शक्तियों का पूर्ण रूप से विकास होता है। इसके अनुष्ठाता को संगठन शक्ति, यश, पद, ऐश्वर्यं आदि की प्राप्ति होती है। यज्ञ के लिए अनेक मन्त्र निर्दिष्ट हैं। गायत्री मन्त्र के द्वारा भी यज्ञानुष्ठान अथवा सामान्य हवन आदि किये जाते हैं।

बलि का अभिप्राय कामादि रूपी पशुओं का बलिदान

बलि का अभिप्राय त्याग या समर्पण है। लोगों में बलि शब्द से पशुहत्या का अर्थ लिया जाता है। परन्तु उपनिषद् का वचन हैं—'काम क्रोध लोभादय: पशव:' अर्थात् 'काम, क्रोध, लोभ आदि विकार पशु रूप हैं।' महानिर्वाण तन्त्र में इस रहस्य का उद्घाटन इस प्रकार किया गया है कि 'काम क्रोधौ द्वो पशु इमावेव मनसा बलिमर्पयेत्' अर्थात् 'काम और क्रोध रूपी दोनों पशुओं का मन से बलिदान एवं अर्पण करे।' अथवा 'काम क्रोधौ विघ्नकृतौ बलि दत्वा जप चरेत्' अर्थात् 'काण और क्रोध रूप विघ्नकारी पशुओं की बलि देकर जप का आचरण करे।'

इस प्रकार बुरे विचारों और दुष्कर्मों के त्याग की भावना बलि में निहित है। साधकों को जीव हत्या न करके सत्य, अहिंसा आदि का आश्रय लेना चाहिए।

योग और उसके दो भेद

'योग' के दो प्रकार हैं—बाह्य और आन्तरिक। बाह्य से आन्तरिक योग श्रेष्ठ है। अन्तर्याग के विषय में शास्त्रीय निर्देश है—

पृथिव्यात्मक गन्धः स्यादाकाशात्मक पुष्पकम्।
धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्नयात्मकः पर।
रसात्मक च नैवेद्यं पूजा पचोपकारिका ॥

अर्थात्—'पृथिवी तत्व की गन्ध, आकाश तत्व का पुष्पवायु तत्व की धूप, तेज तत्व का दीप और जल के रूप में नैवेद्य की भावना द्वारा पंचोपचार पूजन किया जाता है यही अन्तर्याग कहलाता है।

परन्तु बाह्य प्रकार के 'योग' की सम्पन्नता गन्ध, पुरुष, धूप, दी, नैवैद्य आदि के द्वारा सम्पन्न होती है परन्तु बाह्य पूजन को निकृष्ट मानते हैं। इसलिये प्रयत्नपूर्वक मानसिक 'योग' करे।

मन्त्रसिद्धि के लिए जप की अनिवार्यता

किसी भी मन्त्र की सिद्धि के लिये उसका जप आवश्यक होता है। मनु का कथन है कि 'कुछ अन्य क्रियाएं करें या न करें' परन्तु केवल जप से ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—'यज्ञानां जप यज्ञोऽस्मि' अर्थात् 'सब यज्ञों में जप—यज्ञ मैं हूं।'

इस प्रकार जप की श्रेष्ठता सिद्ध होती है। गायत्री मन्त्र के साधकों को किसी अन्य क्रिया की अपेक्षा जप-परायण रहना चाहिए।

प्राण क्रिया से प्राणों का नियमन

प्राण ही जीवन है, प्राण-हीन शरीर निश्चेष्ट और मिट्टी का पुतला मात्र रह जाता है। सभी शास्त्र मानते हैं कि प्राण की संयमित गति-विधि ही स्वस्थ जीवन का आधार है। उसे नियमित रखने के उद्देश्य से योगाचार्यों ने प्राणायाम की विशिष्ठ प्रक्रियाओं का आविष्कार किया और फिर समय-समय पर उनसे होने वाले लाभों का

अनुभव करके उन पर चर्चाएँ होती रहीं। इस विषय में भी इस पुस्तक में प्रचुर प्रकाश डाला जा चुका है।

धारणा, ध्यान और समाधि

योगशास्त्रों में वर्णित यह क्रियाएँ मुमुक्षुजनों के लिए मोक्ष प्राप्त कराने वाली है। धारणा की परिपक्वता होने पर ध्यान की और ध्यान की परिपक्वता होने पर समाधि की सिद्धि होती है। अगले प्रकरण में इनका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

धारणा, ध्यान, समाधि की त्रिपुटी

गायत्री-जप अनुष्ठान

योग के छठे, सातवें, और आठवे अंग के रूप में शास्त्रों ने धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन किया है अनेक विद्वान् मानते हैं कि यह तीनों ही अंग सभी उपासना पद्धतियों में अपेक्षित हैं। इनके अभाव में कोई भी साधना विधि अपना फल नहीं दिखा सकती।

धारणा के विषय में महर्षि पतंजलि का मत है—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (यो०द०३।१) अर्थात् 'चित्त को वृत्तिमात्र से किसी एक देश में ठहराना ही धारणा है।' इसमें 'देशबन्ध' शब्द का अभिप्राय यह है कि चित्त की वृत्ति को देह के किसी स्थान में अर्थात् नाभि चक्र, हृत्कमल, नासाग्र, भौंह अथवा जिह्वा के अग्र भाग आदि स्थानों में ठहराया जाय।

यही नहीं कि चित्त-वृत्ति को शरीर के किसी अंग में ठहराने से ही धारणा होती हो, वरन् सूर्य, चन्द्र, ध्रुव, पर्वत देवता, मूर्ति, पृथिवी, जल, वायु, अग्नि आकाश आदि में चित्त की वृत्ति को अन्य सभी विषयों से हटाकर लगा लेने से भी धारणा की सिद्धि होती है।

उक्त कथन का सीधा सा अर्थ है कि मन की चञ्चलता को संयम के द्वारा रोक कर शरीर अथवा किसी भी बाह्य पदार्थ में योजित करे कि जिससे उसमें एकाग्रता आ जाय और वह उसी देश मात्र में रहे अन्यत्र न जाय। ऐसा होने पर ही चित्त ध्येय विषय के समान होकर स्थिरता पूर्वक उसके स्वरूप का प्रकाश करने लगती है।

आकाशादि की धारणा के विषय में जाबाल उपनिषद ने कहा है कि अपने शरीर में जो आकाश स्थित है उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिये। इसी प्रकार शरीरस्थ प्राणवायु में बाह्य वायु की, जठराग्नि में बाह्य अग्नि की, देहगत तरल में बाह्य जल की और पार्थिव भाग में सम्पूर्ण बाह्य पृथिवी की धारणा करनी चाहिए।

गोरक्ष संहिताकार ने पंचतत्वों की धारणा और उसकी विधियों का स्पष्ट निर्देश किया है। उनके अनुसार—

हृदये पंचभूतानां धारणा च पृथक्-पृथक्।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा साभिधीयते॥

अर्थात्—'हृदय में मन की निश्चलता रखते हुए पंचभूतों की पृथक्-पृथक् धारणा करना ही धारणा कही जाती है।' इसमें 'मनसो निश्चलत्वेन का अर्थ यही है कि जिसने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार के द्वारा मन को संयमित कर लिया हो, उसी को धारणा सिद्ध हो सकती है।

त्रिशिख ब्राह्मण के अनुसार 'मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः इत्यादि के अनुसार 'यमादि के द्वारा मन का धारण करना ही धारणा है और वही संसार-सागर से पार होने का कारण हो सकती है। योगतत्वोपनिषत् के अनुसार भी जिसका चित्त वायु के साथ सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाता है, उसे ही पंच भूतों की धारणा सिद्ध हो सकती है।

पंचमहाभूत हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनमें पृथिवी तत्व की धारणा की विधि पहले बताई जाती है। पृथिवी

का बीज 'लं' है, जो कि चतुष्कोणाकार पीठ के मध्य में स्थित रहता है, उस बीज का हृदय में ध्यान करता हुआ मन और प्राण को भूमण्डल में लीन करले तो पांच घड़ी (दो घण्टे) की धारणा में पृथिवी तक वश में होता है।

योगतत्वोपनिषत् में पार्थिवी धारणा के विषय में बताया गया है कि पृथिवी तत्व चौकोर, पीत, पीत वर्ण का, लकार युक्त है। पृथिवी तत्व में वायु का आरोप कर 'लं' को उसमें युक्त करे और स्वर्ण के समान वर्ण वाले चतुर्भुज ब्रह्मा का ध्यान करे तो अवश्य सफलता मिलती है।

जल की धारणा के विषय में योगतत्वोपनिषत् में कहा गया है कि जल तत्व अर्द्धचन्द्राकार है, उसका बीज 'वं' है, इस तत्व में वायु का आरोप करके 'व' को समर्पित करे और चतुर्भुज, शुद्ध स्फटिक के समान वर्ण वाले, पीताम्बरधारी अच्युत भगवान् विष्णु का ध्यान करे। इस प्रकार पांच घडी के ध्यान में ही सब पापों से छुटकारा हो जाता है। इस धारणा के प्रभाव से जल का भय नहीं रहता और न जल से मृत्यु ही होती है।

अग्नि की धारणा के विषय में योगतत्वोपनिषत्कार ने कहा है कि अग्नि का आकार त्रिकोण, वर्ण लाल और बीजाक्षर 'र' है। अग्नि तत्व में वायु का आरोपण कर 'रं' अक्षर से युक्त करे और त्रिनेत्र, वरदायक, तरुण सूर्य जैसी प्रभा वाले, सर्वाङ्ग में भस्म रमाये हुए भगवान रुद्र का प्रसन्न मन से दो घण्टे तक धारणा करने से अग्नि पर विजय प्राप्त होती है, जिससे साधक को अग्नि से किसी प्रकार का भय नहीं रहता।

वायु की धारणा का वर्णन करते हुए गोरक्षा संहिता में कहा गया है कि वायु तत्व का वर्ण सुरमे के समान, वर्तुलकार तथा 'यं' बीज से समन्वित है। उसके अधिष्ठातृ देव ईश्वर हैं। उस वायु तत्व का ईश्वर के साथ भौंहों के मध्य में ध्यान करे और मन-प्राण के सहित स्वयं को

भी वायु तत्व में लय कर दे तो पाँच घड़ी में वायवी धारणा सिद्ध हो जाती है, जो कि आकाशगमन की शक्ति प्रदान करती है।

योगतत्वोपनिषत्कार ने वायवी धारणा का विस्तृत लक्षण बताते हुए कहा है कि वायु की धारणा शक्ति के धीरे-धीरे बढ़ने पर आसन पर बैठे हुए योगी के शरीर में कम्प होने लगता है। फिर अधिक अभ्यास होने पर मेंढ़क जैसी चेष्टा होने लगती है अर्थात् जैसे मेंढ़क ऊपर को उछलता है और पुनः भूमि पर आ टिकता है, वैसे ही साधक भी ऊपर को उठता और फिर धरती से लग जाता है। जब अभ्यास अधिक बढ़ता है, तब वह धरती से अधिक ऊपर उठने लगता है। अभिप्राय यह है कि वायवी धारणा सिद्ध होने पर साधक आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त कर लेता है।

गोरक्ष संहिताकार ने आकाशी धारणा के विषय में कहा कि आकाश का वर्ण स्वच्छ जल के समान, वर्तुलाकार और 'हकार' बीज-युक्त है। उसके अधिष्ठातृ देवता सदाशिव हैं। उस आकाश तत्व का सदाशिव के सहित चिन्तन करता हुआ मन और प्राण को भी उसी तत्व में लीन कर दे। इस प्रकार के पाँच घड़ी पर्यन्त अभ्यास करने से आकाशी धारणा सिद्ध हो जाती है जो कि मोक्ष के बन्द किवाड़ों को खोलने में समर्थ है।

इस धारणा की सिद्धि से भी 'खेचरत्वं भवेद्‌ध्रुवम्' अर्थात् 'आकाश गमन की शक्ति प्राप्ति होती है।' फिर साधक कहीं भी क्यों न रहे, अत्यन्त सुखी रहता है।

इस प्रकार पार्थिवी धारणा के स्तम्भक, जलीय धारणा द्राविणी, आग्नेयी धारणा दाह उत्पन्न करने वाली, वायवी धारणा भ्रमण कराने वाली और आकाशी धारणा शोषिणी कही गई है। मन, कर्म और वचन से इन पंच धारणाओं का अभ्यास सिद्ध होने पर सभी दुःखों से छुटकारा होता है।

यह पांचों भूत मनुष्य शरीर में विद्यमान हैं, क्योंकि यह शरीर ही पंचभूतों से बना है। जाबालदर्शनोपनिषत् में शरीर में उन-उन

भुतों की स्थिति के पृथक् पृथक् अङ्गों का विवरण दिया गया है, जो कि इस प्रकार है—

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्ययां पाय्वन्तमुच्यते।
हृदयांशस्तथान्यशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलशांक: ।।

अर्थात् —'पाँवों से घुटनों तक का भाग पृथिवी का अंश, घुटनों से गुदा तक का भाग जल का अंश, गुदा से हृदय तक का अग्नि का अंश, हृदय से भौंहों तक का भाय वायु का अंश और मस्तक का भाग आकाश का अंश कहा गया है।' इस प्रकार मनुष्य शरीर के पाँचों अवयव पंचतत्वों से निर्मित हैं।

वेदान्त ग्रन्थों में पंचीकरण का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार अपंचीकृत भूत और उनके कार्य अन्तःकरण, प्राण और कर्मेन्द्रिय सूक्ष्म सृष्टि मानी गई है। सूक्ष्म सृष्टि का ज्ञान इन्द्रियों से होना सम्भव नहीं। जब प्रजापति ने सूक्ष्म सृष्टि उत्पन्न की, तब उससे काम चलता न देखकर उन्होंने स्थूलसृष्टि रचने की इच्छा की और इसीलिए उन्हें भूतों का पंचीकरण करना पड़ा।

पंचीकरण कैसे हुआ ? इस पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि एक-एक भूत के दो-दो भाग बराबर-बराबर के किये गये। उनमें से एक भाग तो यो की त्यों रखा और दूसरे भाग के चार भाग कर दिये। इस प्रकार प्रत्येक भूत का एक भाग सुरक्षित रखकर दूसरे भाग के चार-चार टुकड़े किये गये। उन चार-चार भागों में से प्रत्येक का, एक-एक भाग अन्यान्य चारों भूतों में मिला दिया। इस प्रकार प्रत्येक बड़े भाग में अन्य भूतों का एक-एक भाग जा मिला, जिससे पंचीकरण हो गया। अर्थात् प्रत्येक भूत में पाँच भूतों को समाविष्ट करना ही पंचीकरण है। जब ऐसा हो गया तभी यह द्रश्यात्मक स्थूल सृष्टि उत्पन्न हो सकी।

इस प्रकार से पंचभूतों द्वारा निर्मित शरीर में पाँचों भूत अपने-अपने न्यूनाधिक अंशों के सहित विद्यमान रहते हैं। यदि उन पंचभूतों

में से किसी भी एक की शक्ति को जाग्रत करना हो तो उस एक भूत की धारणा-सिद्धि के द्वारा वैसा किया जाना सम्भव है। जो लोग पाँचों भूतों को वश में करने के इच्छुक हों उन्हें पाँचों की ही उपासना करनी चाहिए।

किस-किस भूतों के जागरण में किस-किस देवता का ध्यान करे, इस पर कहा गया है कि पृथिवी के अंश में ब्रह्माजी का, जल के अंश में विष्णु का, अग्नि के अंश में शिव का, वायु के अंश में ईश्वर का और आकाश के अंश में शिवजी का ध्यान करना चाहिए।

जाबालदर्शनोपनिषद् ने धारणा के अन्य प्रकार पर भी प्रकाश डाला है, वह मनन करने योग्य है—

अथवा तत्र वक्ष्यामि धारणां मुनि पुंगव।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम्॥
धारयेद् बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम्।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत्प्रणवेन तु।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत्॥

अर्थात्—हे मुने! अब मैं आपके प्रति एक अन्य धारणा का वर्णन करता हूँ। ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा में बोधमय, आनन्दमय और कल्याणमय परमात्मा की नित्यप्रति धारणा करे। इससे सभी पापों से छुटकारा मिलता है। कार्यरूपी ब्रह्मा आदि को अपने-अपने कारण में लीन करके जो बुद्धि से परे, अनिर्वचनीय परम कारण और अव्यक्त परमेश्वर है। उसकी अपनी ही आत्मा में धारणा करे और ऐसा करते समय अपने मन को सब कलाओं वाले ओंकार रूप परमेश्वर में लय कर दे तथा इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके आत्मा में ही संलग्न कर दे।

गायत्री मन्त्र में 'धीमहि' से जिस ध्यान का निर्देश है वह

'सवितु' अर्थात् सूर्य में धारणा की ओर भी संकेत करता है। यदि गायत्री का साधक अपने चित्त की वृत्तियों को रोककर उसके अर्थ-चिन्तन में तल्लीन हो जाता है, तब उसकी धारणा-सिद्धि हो सकती है। साधक का कर्त्तव्य है कि वह उसका अभ्यास करता-करता पाँच घड़ी अर्थात् दो घण्टे पर ले जाय। क्योंकि धारणा-सिद्धि के लिए इतना समय अपेक्षित है।

वस्तुत: धारणा ध्यान की ही प्रारम्भिक अवस्था है। यदि धारणा की सिद्धि हो जाती है तो ध्यान की सिद्धि में अधिक विलम्ब या कठिनाई नहीं होती। इसीलिए योगाचार्यों ने धारणा के पश्चात् ध्यान का वर्णन किया है।

और उसके लक्षण में भी कोई विशेष अन्तर नहीं है। धारणा में चित्त वृत्ति को किसी एक स्थान अथवा विषय में लय करके अभीष्ट का ध्यान करते हैं और ध्यान के लक्षण में 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्' (योग सूत्र ३।२) अर्थात् 'जहाँ चित्त को स्थिर किया जाय, उसी में वृत्ति का एक-सा बना रहना ध्यान है।'

अभिप्राय यह है कि धारणा के द्वारा जिस स्थान विशेष या इष्ट विशेष में चित्त लगाया गया है, उसी ध्येय में जिस इष्ट का विशेष का ध्यान करना है, उसमें चित्त वृत्ति समान प्रवाह से लगी रहे, मध्य में कोई भी अन्य वृत्ति न आवे, वही ध्यान है। इसमें वृत्तियाँ ध्येय में ऐसी तन्मय हो जानी चाहिए जैसे कि भौंरा कमल पुष्प में तन्मय और बेसुध हो जाता है।

जाबालदर्शन के ऋषि ने ध्यान का स्वरूप वर्णन करते हुए आत्म ध्यान को यथार्थ माना है। उनके अनुसार 'जो परमात्मा योगीश्वरों का भी ईश्वर, ऊर्ध्व, विकराल नेत्र, संसाररूपी रोग की एक मात्र औषधि तथा विश्वरूप से श्रद्धापूर्वक ध्यान करें और ऐसी भावना करे कि यह परब्रह्म परमेश्वर मैं ही हूँ।

इन्हीं ऋषि ने ध्यान का एक अन्य रूप निर्दिष्ट किया है, जो कि साधक को मोक्ष-प्राप्ति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होता है—

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अत्यर्थमचलं नित्यमादियध्यान्त वर्जितम् ।।
तथा स्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयनूपमम् ।।
आत्मान सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेत्ध्येयातीतं विमुक्तये ।।

अर्थात्—जो सत्य स्वरूप, सभी का ईश्वर, ज्ञानमय, आनन्दमय, अद्वितीय, सर्व वैभवों से सम्पन्न, अचल, नित्य आदि मध्य-अन्त से रहित, स्थूल प्रपंच से परे, आकाश से भिन्न-स्पर्श योग्य वायु से भी विलक्षण (स्पर्श में न आने वाले), नेत्रों से दिखाई न देने वाले रस-गन्ध आदि से परे, अप्रमेय, अनुपम, परमेश्वर हैं, उन्हें सच्चिदानन्द और अनन्त मानकर बुद्धि के द्वारा यह भावना करता हुआ ध्यान करे कि मैं ही परमब्रह्म परमेश्वर हूँ। इस प्रकार के ध्यान से मोक्ष की सिद्धि होती है।

ध्यान का अर्थ प्रतिपादन करते हुए गोरक्ष संहिताकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—

स्मृत्येव सर्वचिन्तायां धातुरेकः प्रपद्यते ।
यच्चित्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यान प्रचक्षते ।।

अर्थात्—'स्मृ' धातु सर्व चिन्तन वाचक है और जो कोई अपने चित्त में आत्मतत्व का चिन्तन करता है, उसका वह चिन्तन 'ध्यान' कहलाता है।

ध्यान भी एक प्रकार का नहीं है, आचार्यों ने उसे कई प्रकार का माना है। गोरक्ष संहिता ने इसके दो भेद बताते हुए इस प्रकार कहा है—

द्विविध भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ।
चर्याभेदेन सकलं निष्कल निर्गुणं भवेत् ।।

अर्थात्—ध्यान दो प्रकार का होता है-(1) सकल अर्थात् सगुण,

और (२) निष्कल अर्थात् निर्गुण । परन्तु सगुण और निर्गुण का यह भेद चर्याभेद से ही होता है।

ध्यान के यह दो भेद प्राय: सभी आचार्य स्वीकार करते हैं। कोई साधक सगुण का उपासक है तो कोई निर्गुण का। अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार ही सगुण या निर्गुण की उपासना की जाती है। परन्तु किसी भी विधि का पालन किया जाय, परमात्मा तो एक ही है, इसलिए दोनों प्रकार की उपासनाओं में उपास्य एक मात्र वही परमात्मा है।

परन्तु सगुण और निर्गुण उपासनाओं के फलों में समानता नहीं मानी जाती। क्योंकि किसी भी कर्म का फल उसमें निहित भावना के अनुसार ही प्राप्त हो सकता है। योगतत्वोपनिषत्कार ने दोनों प्रकार के ध्यानों का पृथक्-पृथक् फल बताते हुए कहा है—

सगुण ध्यानमेतत्स्यादणिमादि गुणप्रदम्।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवत् ।।

अर्थात्—सगुण रूप का ध्यान करने पर अणिमादि सिद्धियां प्राप्त होती हैं, जबकि निर्गुण का ध्यान करने वाले साधकों को समाधि की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार आत्म चिन्तन या ब्रह्म चिन्तन का जो निर्देश शास्त्रों में मिलता है, वह साधक को मोक्ष-प्राप्ति के मार्ग में अग्रसर कराने वाला है। क्योंकि शास्त्रों ने ब्रह्म को गुण रहित, अव्यक्त, अद्वितीय, अव्यय आदि कह कर सत्-चित्-आनन्दमय कहा है। उसका ध्यान करने वाला साधक अन्य किसी ऐश्वर्य की कामना नहीं करता, उसे तो मोक्ष की ही अभिलाषा रहती है।

सगुण उपासना में देवी-देवताओं के स्वरूप या उनकी प्रस्तर मूर्ति के आदि का ध्यान किया जाता है। इस ध्यान में लौकिक सुखों की प्राप्ति अथवा अणिमादि सिद्धियों के ऐश्वर्य की कामना रहती है। ऐसा साधक-मोक्ष प्राप्ति में वंचित रहता है।

परन्तु, सगुण उपासना में भी यदि लौकिक ऐषणाओं की समाप्ति हो जाती है और उपासक के चित्त में मोक्ष की लालसा उत्पन्न हो जाती है तो उसे भी मोक्ष का मिलना असम्भव नहीं है। अनेकों सगुण उपासक भी संसार सागर से पार होकर परमात्मा से ऐक्य स्थापित करने में सफल हो गए।

घेरण्ड ऋषि ने ध्यान के तीन भेद माने हैं—'स्थूलं ज्योतिस्तथासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः' अर्थात् स्थूल ध्यान ज्योतिध्यान और सूक्ष्म ध्यान के भेद से ध्यान तीन प्रकार का होता है।' इनमें स्थूल ध्यान वह है, जिसमें मूर्तिमय इष्टदेव का ध्यान किया जाय, ज्योतिर्मय ध्यान वह है जिसमें तेजोमय ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ध्यान निहित हो और सूक्ष्म ध्यान में विन्दुमय ब्रह्मकुण्डलिनी शक्ति का चिन्तन किया जाता है।

उन तीन प्रकार के ध्यानों में स्थूल और सूक्ष्म को तो प्रायः सभी स्वीकार करते हैं। क्योंकि स्थूल ध्यान ही सगुण ध्यान ही निर्गुण ध्यान है। इनके विषय में ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। परन्तु तीसरे प्रकार का ज्योतिर्ध्यान तान्त्रिक उपासक अधिक कार्य में लाते हैं। मूलाधार में जो कुण्डलिनी शक्ति है (जिसका वर्णन अन्यत्र किया गया है) वहीं दीपकलिका की आकृति वाला जीव स्थित रहता है। वहीं ज्योतिस्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना ज्योतिर्मय ध्यान कहलाता है। ध्यानविन्दूपनिषत् में इसका वर्णन इस प्रकार से मिलता है—

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम् ।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥

अर्थात्—हृदय कमल की कर्णिका के मध्य में जो स्थिर दीपशिखा के समान अँगूठे के प्रमाण का जो ओंकार रूप ईश्वर (जीव) अवस्थित है, उसी का ध्यान करे।' इस प्रकार यह आत्म-ध्यान ज्योतिर्ध्यान ही है। कुछ आचार्य इसी को निर्गुण ध्यान कहते हैं, वे 'ज्योतिर्ध्यान' संज्ञक पृथक् भेद नहीं मानते।

कुछ विद्वानों के मत में गायत्री-मन्त्र ज्योतिर्ध्यान की ओर ही प्रवृत्त करता है। उसमें 'सवितुः' अर्थात् सूर्य परम ज्योतिरूप ही है और 'धीमहि' से उसी के ध्यान का निर्देश है। जो फल ज्योतिर्ध्यान या निर्गुण ध्यान के उपासक को प्राप्त होता है, उसकी प्राप्ति गायत्री साधक को अत्यन्त ही सुलभ है।

स्थूल ध्यान के विषय में भी कुछ अधिक प्रकाश डालना उचित होगा। दिखाई देने वाले या दिखाई न देने वाले पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जो ध्यान किया जाय वह स्थूल ध्यान ही है। जैसे कि शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, हनुमान, लक्ष्मी, पार्वती, दुर्गा आदि अथवा अपने अन्य किसी इष्टदेव या गुरुदेव आदि की मूर्ति या चित्र आदि का अपने भीतरी चक्षुओं से देखने के अभ्यास में चित्त को तन्मय कर दिया जाय, वही स्थूल ध्यान है और ऐसा ध्यान साधकों के लिए अत्यन्त सुगम होता है। क्योंकि प्रारम्भ में ध्यान के लिए किसी न किसी रूप का होना अपेक्षित है, बिना रूप के किसका ध्यान किया जाय? स्थूल ध्यान में मूर्ति या चित्र आदि रूप का ध्यान किया जाता है, इसलिए ध्यानोपासना आरम्भ करने वाले साधकों को तो इसी में सरलता रहती है।

सूक्ष्म ध्यान का प्रारम्भ करने वाले साधक भी प्रारम्भ में किसी न किसी आकार को ही ध्यान का साधन बनाते हैं। इसके लिए आवश्यक यह है कि स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म पदार्थों को ध्येय बनाकर निरन्तर अभ्यास करता रहे। ऐसा करते रहने से ध्यान की परिपक्वता होती है और स्थूल से सूक्ष्म अथवा ज्योतिर्मय ध्यान की सिद्धि होने लगती है।

गोरक्ष संहिताकार के ध्यान से प्राप्त होने वाले अनेक फलों का वर्णन किया है। 'अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुधः स्थाप्य सुखासनः' इत्यादि के अनुसार 'सुखासन लगाकर मन को आधारादि चक्रों में युक्त करे और सम्यक् प्रकार से नासिका के अग्रभाग में दृष्टि करके कुण्डलिनी सहित

ध्येय का ध्यान करे तो सभी पापों से मुक्त हो जाता है। ध्यान के योग्य स्थानों में प्रथम स्वर्ण जैसी आभा वाला चार दल कमल रूप मूलाधार चक्र है, इसका कुण्डलिनी सहित ध्यान करने से सभी पाप दूर होते हैं। दूसरा स्थान स्वाधिष्ठान चक्रः छः दल का तथा माणिक्य के समान लाल वर्ण का है, नासाग्र दृष्टि करके उस चक्र सहित आत्मा का ध्यान करने वाला साधक पूर्ण सुखो होता है।

अब गोरक्ष संहिताकार मणिपूर आदि चक्रों में आत्म ध्यान का फल बताते हैं। मणिपूर चक्र का वर्ण अरुण सूर्य के समान है, इसके साथ आत्मा का ध्यान करने से जगत् को क्षुभित करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है जो साधक हृदयाकाश स्थित प्रचण्ड सूर्योपम अनहित चक्र में ध्यान करता है वह ब्रह्ममय होता है।

मणिपूर चक्र के अधिष्ठातृ देवता रुद्र हैं, इसलिए इसमें रुद्र का ध्यान सिद्ध होता है। योगचूडामण्युनिषत् के अनुसार मणिपूर चक्र का आकार मणि के समान है, वह विद्युत् धा'स के समान श्रेष्ठ प्रकाश वाला और तपाये हुए स्वर्ण के समान चमकदार है तावज्जीवी भ्रमत्येव यावत्तत्व न विन्दति' (यो. चू. उ.) अर्थात् 'उस चक्र में जीव जब तक तत्व का दर्शन नहीं कर लेता, तब तक संसार-चक्र में भ्रमता रहता है।'

अनाहत चक्र के अधिपति ईशान या ईश्वर हैं, इसलिए उसमें ईश्वर का ध्यान सिद्ध होता है। अनाहत चक्र को ओंकार रूप शब्द ब्रह्म भी मानते हैं और ओंकार के ध्यान से ब्रह्ममय हो जाना कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। मैत्रेय्युपनिषत् के 'आकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः' इत्यादि के अनुसार 'अकार, उकार, मकार रूप ओंकारमय सनातन ब्रह्म मैं ही हूँ, इस प्रकार से आत्मा का ओंकार रूप से हृदय में ध्यान करने का निर्देश है।

कण्ठ में दीप ज्योति के समान प्रभा वाले विशुद्ध चक्र में सदाशिव रूप आत्मा का ध्यान करने से साधक आनन्दमय हो जाता है भौंहों

के मध्य आज्ञाचक्र में आत्मा को परमात्मा शिव मानकर ध्यान करे तो आत्मा-परमात्मा का ऐक्य स्थापित हो सकता है। आत्मा-परमात्मा का ऐक्य प्रतिपादन करते पैंगलोपनिषत् का कथन है—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः।
ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः॥

अर्थात्—'महर्षियों का कथन है कि यह आत्मा इन्द्रिय और मन से सम्पन्न होकर भोक्ता बनता है और वही हृदय में साक्षात् नारायण के रूप में निवास करता है।' इस प्रकार निर्गुण ध्यान में आत्मध्यान को परमात्म-ध्यान का ही उपाय स्वीकार किया गया है।

और गायत्री मन्त्र तो प्रत्यक्ष रूप से ध्यान का ही मन्त्र है उसमें सूर्य की उपासना का समावेश होने के कारण अनेक विद्वान् इसके द्वारा किये जाने ध्यान को ज्योतिर्ध्यान ही मानते हैं। इस मन्त्र में ओंकार का आदि में होना ब्रह्म का ही पर्याय है, और शास्त्रों ने आत्मा को भी ओंकार रूप सनातन धर्म स्वीकार किया गया है।

'भूः भुवः स्वः' का अभिप्राय त्रैलोक्य से है। उसके जिस जिस अक्षर में ध्यान किया जायगा, उस-उस के ऐश्वर्य की सिद्धि हो सकती है। इसलिए जो साधक ऐश्वर्य की कामना करते हों, उन्हें गायत्री की प्रथम व्याहृति के अर्थ पर विशेष रूप से मनन और चिन्तन करना चाहिए।

गोरक्ष संहिताकार ने ध्यान के योग्य नौ अङ्ग बताये हैं (१) गुदा या मूलाधार चक्र, (२) मेढ्र या स्वाधिष्ठान चक्र, (३) नाभि अथवा मणिपूर चक्र, (४) हृत्कमल या अनाहत चक्र, (५) विशुद्ध चक्र, (६) घटिका मूल, (७) लम्बिका स्नान, (८) भौंहों के मध्य का स्थान अथवा आज्ञा चक्र, और (९) नभोबिल अर्थात् शून्य स्थान।

संहिताकार ने इन स्थानों को उपाधि युक्त करके ध्यान करना कहा है, उसका अभिप्राय पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश रूप पंचतत्वों से युक्त करना है। क्योंकि देह पंचभूतात्मक है, इसलिए उक्त नौ स्थानों की उपाधि यह पंचतत्व या पंचभूत ही है।

गायत्री मन्त्र के 'भूः भुवः स्वः में पंचभूतों का समावेश तो है ही, उन दिव्य एश्वर्यों का भी समावेश है, जिनकी इच्छा सुख की प्राप्ति के लिए की जाती है। यदि साधक उन ऐश्वर्यो की अभिलाषा न रखता हो तो उसे मन्त्रार्थ युक्त गायत्री पर विचार करते हुए नासाग्र अथवा भौंहों के मध्य दृष्टि रखते हुए परमात्मा का ध्यान करना चाहिये। उनके फलस्वरूप साधक को मोक्ष की प्राप्ति सहज सम्भव है।

ध्यान की अधिक दृढ़ अवस्था का नाम समाधि है। उसका रूप बताते हुए महर्षि पतजलि ने कहा है कि 'तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप-शून्यमिव समाधि; अर्थात् 'जिस ध्यान में केवल ध्येयमात्र का ही प्रतीति होती है और चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, वही ध्यान समाधि कहलाता है।'

धातृ का अर्थ है ध्यान करने वाला। सामान्य भाषा में इसे ध्याता कहते हैं। ध्यान का विषय ध्येय ही है, ध्येय ही है, ध्येय का अर्थ है 'जिस ध्यान किया जाय वह वस्तु विशेष। उस वस्तु विशेष का ध्यान जिसके द्वारा हो सकता है, वह चित्त की वृत्ति है। जब ध्याता ध्यान करने लगता है तब उसे यह बोध रहता है कि मैं अमुक ध्येय का ध्यान कर रहा हूँ। उस अवस्था में धातृ (ध्याता), ध्येय और ध्यान तीनों का पृथक्-पृथक् ध्यान रहता है। परन्तु ध्यान करते-करते जब 'चित्त' ध्येय के रूप में बदल जाता है, तह अपने रूप का भी अभाव सा प्रतीत होने लगता है। तब यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ।

उसी अवस्था में तन्मय होने पर केवल ध्येय का ही भान होता है। चित्त की वृत्ति ध्येय ही बन जाती है। ध्येय ही बन जाती। ध्येय के अतिरिक्त अन्य कुछ भी भासित नहीं होता इसे समाधि कहते हैं। परन्तु इस समाधि को सबीज समझना चाहिए। क्योंकि इसमें संसार का बीज विषय ध्येयाकार बृत्ति के रूप से उपस्थित रहता है।

एक निर्बीज समाधि और है, जिसमें संसार के बीज विषय रूप ध्येयाकार वृत्ति का अभाव हो जाता है। इस प्रकार सबीज और निर्बीज दो प्रकार की समाधियाँ प्रमुख रूप से मानी गई हैं। सबीज समाधि को संप्रज्ञात योग और निर्बीज समाधि को असंप्रज्ञात योग कहते हैं।

ध्यान और समाधि का भेद निश्चित करते हुए गोरक्ष संहिता-कार कहते हैं—

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावत्कर्णादिषु स्थितम्।
यावदेवं स्मृत ध्यानं समाधिः स्यादता परम्॥

अर्थात्—जब तक कर्ण आदि पंच ज्ञानेन्द्रियों में उनके शब्दादि विषयों का किंचित् भी अंश विद्यमान रहता है, तब तक साधक की ध्यानावस्था रहती है और जब पाँचों इन्द्रियों वृत्तियाँ निःशेष भाव से आत्मा में लीन हो जाती है, तब समाधि अवस्था हो जाती है।

उक्त कथन का अभिप्राय यही है कि जब तक साधक को इन्द्रिय की वृत्तियों का किंचित् भी आभास रहता है, तब तक ध्यानावस्था ही रहता है और जब उन वृत्तियों का सम्पूर्ण रूप से लय हो जाता है, तब ध्यान की अवस्था ही समाधि की अवस्था में बदल जाती है।

वस्तुतः धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक शिखर पर चढ़ने के लिए तीन सोपान रूप ही हैं। प्रथम सोपान धारणा, द्वितीय सोपान ध्यान और तृतीय सोपान समाधि है। 'तयमेकत्र संतमः' (यो. द. ३।४) अर्थात् 'तीनों का एक विषय में हो जाना संयम है।'

जब धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनों का त्रिपुटि एक ही विषय में हो जाती है कि इन तीनों की सिद्धि से अनेक प्रकार की सिद्धियों की उपलब्धि होती है। यह समझ लेने योग्य तथ्य है कि धारणा और यान, यह दोनों समाधि के ही अंग हैं और इन तीनों के समुदाय को महर्षि से 'संयम' संज्ञा दी है।

घेरण्ड संहिताकार ने समाधि के अनेक नाम-रूपों का वर्णन किया है—(१) ध्यान योग समाधि, (२) नादयोग समाधि, (३) रसानन्द योग समाधि, (४) लयसिद्धि योग समाधि, (५) भक्तियोग समाधि (६) राजयोग समाधि।

प्रथम प्रकार की समाधि में आत्मा में दीप्तिमान ज्योति का ध्यान करते हुए यह प्रयत्न किया जाता है कि वह ज्योति बिन्दु ब्रह्म के रूप में दिखाई दे। फिर यह ध्यान करे कि हमारा आत्मा ही आकाश के मध्य में या आकाश के चारों ओर लिपटा हुआ है और सर्वत्र आत्मा ही है और वह परमात्मा में लीन हो रहा है।

ध्यानबिन्दूपनिषत् में कहा है कि बीजाक्षर परम बिन्दु है, उसके ऊपर नाद स्थित है, जब वह नाद अक्षर में लय हो जाता है, तब शब्द-रहित परम पद का रूप होता है। अनाहत शब्द से भी परे जो शब्द है, उसके प्राप्त होने पर ही योगी का संशय निवृत्त होता है।

घेरण्ड संहिता में द्वितीय समाधि का वर्णन करते हुए कहा है कि साधारण क्रियाएँ हटकर तो समाधि सिद्ध होती है वह नादयोग समाधि कहलाती है।

तीसरी समाधि में अभ्यास के समय शरीर में भौरों के समान गुञ्जार होती है। यह नाद जहाँ पर हो, वहीं पर मन को लगा ले। यह रसानन्द योग समाधि कहलाती है। इससे 'सोऽहं' ज्ञान होकर योगी सदा आनन्दित रहता है।

चौथी समाधि में साधक स्वयं में शक्ति की और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। फिर यह भावना करे कि मुझमें और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप से विहार हो रहा है। फिर ऐक्य स्थापित करता हुआ स्वयं को अद्वैत ब्रह्म माने। इस अवस्था में जिस समाधि की सिद्ध होती है, उसे लय सिद्धियोग समाधि कहते हैं।

उक्त समाधि में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि स्वयं में शक्ति की और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। वस्तुतः एक परमात्मा ही

पुरुष है, शेष सब सृष्टि प्रकृति रूपा है। रुद्र हृदयोपनिषत् में स्पष्ट कहा है—

उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजंगमः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम्॥

अर्थात्—स्थावर जङ्गम रूप यह सम्पूर्ण सृष्टि उमा और रुद्र रूप ही है। व्यक्त संसार उमा रूप है और अव्यक्त संसार महेश्वर (रुद्र) रूप है।

इससे सिद्ध होता है कि संसार के सभी जीव स्त्रीलिंग हैं, इसीलिए ब्रज के अनेक सन्त सखी भाव से भगवान् श्रीकृष्ण को पति मानते और उनकी उपासना में लीन रहते थे। उस अवस्था में उनको समाधि लग जाती थी और वह समाधि लय सिद्धि योग का ही एक रूप थी।

भक्तियोग समाधि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि साधक अपने हृदय में आह्लाद और भक्तिभाव से इष्टदेव के स्वरूप का चिन्तन करे। इससे 'आनन्दाश्रु पुलकेन दशाभावः प्रजायते' अर्थात् 'आनन्द के आंसू बहने लगते और शरीर पुलकायमान होने लगता है।' ऐसा होने पर मन में अचैतन्यता और एकाग्रता आकर इष्टदेव से साक्षात्कार होने लगता है।

भक्त के चित्त में अपने भगवान् के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं रहता। उसके नेत्रों से आनन्द के आँसू निकलते रहते हैं। बाह्य विषयों का सर्वथा अभाव प्रतीत होता है। इस प्रकार भक्त अपनी भक्ति की तन्मयता में जिस समाधि अवस्था में जा पहुँचता है वह भक्तियोग समाधि ही है।

अब राजयोग समाधि के विषय में कहते हैं। चित्त को एकाग्र करके ब्रह्म में योजित कर दे तो राजयोग समाधि की सिद्धि हो सकती है। इसमें मन को सब ओर से हटाकर आज्ञाचक्र में लगाते है।

'राजयोगः समाधिः स्यादेकान्मन्येव साधनम्' अर्थात् एक आत्मा में ध्यान करते हुए जो समाधि की अवस्था होती है, वह राजयोग समाधि ही है।

गायत्री मन्त्र द्वारा समाधि की सहज अवस्था

इस प्रकार समाधि के विषय में विभिन्न आचार्यों के विभिन्न मत हैं। वे अपने-अपने अनुभवों के अनुसार उसके लिए विधियों का भी भिन्न-भिन्न रूप से निर्देश करते है। कोई योगाभ्यास से समाधि का सिद्धि मानते हैं तो कोई भक्ति मार्ग से। किसी के मत में सविधि आत्माराधन से भी समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है।

विगत पृष्ठों में ध्यान के तीन रूपों में ज्योतिर्ध्यान का विवेचन किया जा चुका है। ज्योतिर्ध्यान की सिद्धि तान्त्रिक विधियों से शीघ्र हो सकती है। उसमें मन्त्र-जप में चित्त वृत्ति का लय हो जाना ही ध्यान की अवस्था हो जाती फिर मन्त्र-जप में बाह्य वृत्ति का अभाव और ध्येय से तादात्म्य भाव का स्थायित्व समाधि अवस्था को उत्पन्न करने में सहायक होता है।

योगदर्शनकार न धारणा, ध्यान, समाधि, तीनों का ही एक विषय में होना संयम बताने के पश्चात् उसे जीतने का निर्देश किया है और उस संयम-जप को समाधि (समाधि ज्ञान) का प्रकाश होना कहा है उसका अभिप्राय यह है कि जब साधक चित्त की ऐसी स्थिति कर लेता कि वह चित्त को जिस विषय में संयमित करना चाहे, उसी में संयम हो जाय और ऐसा होने पर अलौकिक ज्ञान की शक्ति का प्रकाश होता है और तभी अनेक प्रकार की विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। संयम में जैसे-जैसे दृढ़ता आती जाती है, वैसे-वैसे समाधि प्रज्ञा का प्रकाश उज्वल होता जाता है।

योग दर्शन (३।६) में संयम की प्रयोग विधि इस प्रकार बताई है कि 'तस्य भूमिषु विनियोगः' उस संयम का क्रम से भूमियों में विनियोग करे।' अभिप्राय यह है कि साधक प्रथम चित्त की स्थूल वृत्ति

वाली भूमि में संयम करे। इस प्रकार प्रथम भूमि को जीत कर दूसरी में संयम करना उचित है क्योंकि नीचे की भूमि को जीते बिना ऊँची भूमि में संयम करने लगें तो ज्ञान रूपी फल प्राप्त नहीं हो सकता।

गायत्री मन्त्र में भी इसी प्रकार उन्मनी अवस्था प्राप्त करते हुए समाधि सिद्ध की जा सकती है। सर्व प्रथम ओंकार में चित्त वृत्ति को तदाकार कर लेने पर जिस ओंकार वृत्ति की उपलब्धि होती है, वह समाधि का एक विशिष्ट रूप ही है क्योंकि ओंकार को योगाचार्यों ने भी नाद ब्रह्म माना है और घेरण्ड ऋषि ने नाद में चित्त वृत्ति को लगाकर तदाकार हो जाना ही रसानन्द योग समाधि कहा है।

अब 'भूः' में चित्त वृत्ति को योजित करना चाहिए। यद्यपि 'भूः' से पृथिवी लोक के अर्थ की सिद्धि होती है और योगी पुरुष इसके द्वारा भूलोक के सम्पूर्ण ऐश्वर्य को जीत सकता है। तथापि 'भूः' में संयम करने से स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार की मनोभूमियों पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

जब 'भूः' का संयम सिद्ध हो जाय तब 'भुवः' में संयम करना उचित है। उससे भूवर्लोक के सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को जीता जा सकता है। अनेक आचार्यों के अनुसार 'भुवः' स्वर्गलोक तक पहुँचाने में बीच की सीढ़ी है, यदि इसकी सिद्धि हो पाती तो स्वर्ग लोक की सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

इसके पश्चात् 'स्व' में संयम करना उचित है। इससे साधक को जिस समाधि की प्राप्ति होती है, वह दिव्य ज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। 'भुवः' से स्वर्ग का मार्ग खुलता है तो 'स्वः' से स्वर्ग में पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है और वहाँ के दिव्य आनन्द की भी उपलब्धि होती है। यज्ञकर्त्ता यजमान अनेक बड़े-बड़े यज्ञों को करके भी स्वर्ग-लोक को बड़ी कठिनाई से प्राप्त करते हैं। जबकि गायत्री के स्वः' शब्द संयम करने वाले साधक के लिए स्वर्गलोक की प्राप्ति सुलभ मानी गई है।

फिर 'तत्' शब्द में संयम किया जाय तो 'सविता' सम्बन्धी ज्ञान का प्रकाश होता है। क्योंकि 'तत्' का प्रयोग सविता के लिए ही हुआ है, जिसका अर्थ है 'वह'। जब 'वह' में चित्त वृत्ति रमा दिया जाय, तब उससे सम्बन्धित जो लक्ष्य है, उस तक पहुँचने का मार्ग प्रशस्त होना ही चाहिए।

'तत्' की सिद्धि के पश्चात् 'सवितुः' की सिद्धि आवश्यक है। सवितु का अर्थ सविता या सूर्य हैं और सूर्य वह परम ज्योति है, जिसमें उत्कृष्ट तेज विद्यमान है। सूर्य के ध्यान से तेजोध्यान की सिद्धि होकर श्रेष्ठ समाधि लग जाती है। उसमें चित्त की वृत्ति पूर्ण रूप से ज्योतिर्मय हो जाती है।

सूर्योपनिषत् में सूर्य को ब्रह्मरूप और चारों वेद स्वरूप प्रतिपादन करते हुए कहा गया है—'त्वमेव प्रत्यक्ष कर्मकर्त्ताऽसि, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि, त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि, त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि, त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि, त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि, त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि, त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वाऽसि, त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि' अर्थात् 'हे आदित्य! तुम्हीं कर्म और कर्त्ता हो, तुम्हीं ब्रह्म और विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र हो तथा तुम्हीं ऋक्, यजुः, साम और अथर्व एवं छन्द रूप हो।'

इससे स्पष्ट है कि सविता ही ब्रह्म, विष्णु, रुद्र आदि हैं। उनके ध्यान से सर्व ध्यान की सिद्धि होती है। इसीलिए सविता को 'वरेण्य' अर्थात् 'वरणीय' कहा गया है।

'भर्गः' का अर्थ भी 'तेज' किया जाता है। इससे भी तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान की ही सिद्धि होती है। उसके द्वारा अविद्या के दोषों का विनाश और ज्ञान का प्रकाश होता है। कुछ आचार्यों के मत में 'भर्गः' एक दिव्य प्रकाशमान शक्ति है, जिसका स्वामी आनन्दमय परमात्मा ही है।

निरुक्त में 'भर्गः' के अर्थ प्रतिपादन में कहा है—'भर्गस्तेजः प्रकाशः प्रकाशोत्तानम्, यन्निरुपद्रवं निष्पापं निर्गुणं शुद्धं सकल दोष

रहितं पक्वं परमार्थं विज्ञानस्वरूपं तद् भर्गः' अर्थात् 'भर्ग तेज है, प्रकाश है, और वह प्रकाश भी इतना ऊँचा (उत्कृष्ट) है कि उसके सामने अज्ञानान्धकार टिक ही नहीं सकता । जो निरुपद्रव, निष्पाप, गुण-रहित, शुद्ध और सभी दोषों से परे, पूर्ण पक्व, परमार्थ रूप और विज्ञान स्वरूप है, वही भर्ग: है ।'

परन्तु, गायत्री मन्त्र केवल 'भर्गः' को ही प्रमुखता नहीं देता, वरन् वह 'देवस्य' अर्थात् 'देवता का' बताता है । इसका अभिप्राय हुआ देवता का तेज और वह देवता किसी से छिपा हुआ नहीं है । ज्ञानीजन उसे अपने बुद्धि बल से जानते और ज्ञान नेत्रों से देखते हैं । कठोपनिषत् के अनुसार—

अणोरणीयान्महतो महीयान्
आत्मस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥

अर्थात्—'जो इस हृदय गह्वर में निहित सूक्ष्माति सूक्ष्म एवं महान् से भी महान् परमात्मा को और उसकी महिमा को देख पाता है, ही कामना-रहित तथा दुःख-शोक-रहित व्यक्ति पर उस परमात्मा की उस कृपा हुई समझिये ।

तो, वह परमात्मा ही गायत्री मन्त्र में निहित 'देव' है । उसका साधक जब उसमें तन्मय हो जाता है, तब उसे बाह्य विषयों का किंचित् भी अनुभव शेष नहीं रहता और चित्तवृत्ति पूर्ण रूप से देव वृत्ति बन जाती है । इस प्रकार गायत्री साधक उसी परम पिता परमात्मदेव के साक्षात्कार में समर्थ हो जाता है ।

'धीमहि' शब्द से हमारे उक्त मत की पूर्ण पुष्टि होती है । पहिले बताया जा चुका है कि 'धीमहि' शब्द का अर्थ 'ध्यान' से सम्बन्धित है । 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' के अर्थ पर विचार

करने से यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि 'उस वरणीय सविता देव का, जिसका भर्ग: अर्थात् तेज (अद्वितीय) है, हमें ध्यान करना चाहिए।'

जब इस प्रकार के ध्यान की सिद्धि हो जाय, तब उसकी परिपक्वता का निरन्तर अभ्यास करता रहे। धीरे-धीरे उस साधक को समाधि को समाधि की सिद्धि होने लगेगी। उस सिद्धि का क्या फल हो सकता है ? इस पर विचार करने की अधिक आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि गायत्री मन्त्र का अन्तिम पद इसे स्वयं ही स्पष्ट कर देता है। यथा—

'धियो यो नः प्रचोदयात्' अर्थात् 'हमारी बुद्धि को शुभ कर्म की ओर प्रेरित करो।' वैसे, 'धियः' शब्द का अर्थ बुद्धि ही नहीं, कर्म और वाणी भी है। इसलिए उक्त पद का अभिप्राय यह भी होता है कि 'हमारे द्वारा किये जाने वाले कर्म शुभ ही हों, ऐसी प्रेरणा कीजिए।' अथवा 'हमारी वाणी सदा शुभ वार्ता में ही लगी रहे, सदा सत्य बोले और ब्रह्म विषयक चर्चा में ही प्रेरित रहे।'

इस प्रकार पूरा गायत्री मन्त्र सदाचरण और ब्रह्मज्ञान से ओतप्रोत है। उसका साधक सदा शुभ कर्मों में ही लगा रहता है। क्योंकि वह जैसे-जैसे उसके अर्थों पर विचार करता जाता है, वैसे-वैसे ही उसे शुभ कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होती जाती है।

योगचूड़ामण्युपनिषत् ने उस परमात्मा को सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखे जाने का प्रतिपादन किया है, यथा—

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित्॥

अर्थात्—वह अग्रभाग (प्रणव) रूप ब्रह्म ज्योतिर्मय है तथा वाणी से परे है। उसे महात्माजन सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा ही देख पाते हैं। जो उस ब्रह्म को जान लेता है वही वेद का जानने वाला है।

अब प्रश्न यह है कि वह सूक्ष्म बुद्धि किस प्रकार उत्पन्न हो और उसके द्वारा ब्रह्म को किस प्रकार देखा जाय ? जब तक बाह्य विषयों

ज्ञान बना रहता है, तब तक मनुष्य के समस्त क्रिया-कलाप स्थूल बुद्धि से होते हैं और यह अवस्था तभी तक रहती है, जब तक कि धारणा की परिपक्वता नहीं होती। जब धारणा से ध्यान की ओर अग्रसर हुआ जाता है, तब बाह्य विषयों का ज्ञान नष्ट होता चला जाता है और स्थूल बुद्धि लुप्त हो जाती है।

तत्पश्चात् ध्यान की दृढ़ता होने लगती है और सूक्ष्म बुद्धि का प्राकट्य आरम्भ होजाता है। उस समय साधक की वही स्थिति होने लगती है, जिसे महर्षि पतंजलि ने 'तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्' (३।१०) अर्थात् 'निरोध संस्कार से उत्पन्न चित्त की प्रशान्त प्रवाह वाली स्थिति कहा है।

प्रसङ्गवश निरोध संस्कार पर प्रकाश डालना भी आवश्यक है। जब व्युत्थान के संस्कार रूप मल दब जाते हैं और 'पर-वैराग्य' के प्रबल हो जाते हैं, उन्हें निरोध संस्कार की संज्ञा दी गई है। उन निरोध संस्कारों की बहुलता से निर्मल संस्कारों की निरोध धारा प्रवाहित रहती है, यही चित्त का प्रशान्त होना अथवा एक रस बहना है। जैसे जब तक अग्नि में काष्ट जलता रहता है, तभी तक अग्नि की तीव्रता रहती है ज्यों ही काष्ठ रूप ईंधन समाप्त हो जाता है त्योंही अग्नि शान्त हो जाती है। वैसे ही वृत्ति के क्षीण होने पर संस्कार अन्तर बाधित होते हैं इसी को चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति कहते हैं और चित्त का अवस्था परिणाम भी यही है।

इस अवस्था में यदि साधक अधिक दृढ़ अभ्यासी होता है तो वह निरोध संस्कारों को सुदृढ़ करने में लगा रहता है। क्योंकि यदि निरोध संस्कार क्षीण होते जाते हैं, तो व्युत्थान के संस्कार साधक की चित्त वृत्ति को दबा लेते हैं और तब समाधि में विघ्न पड़ना स्वाभाविक होता है।

यह तथ्य भी जानने योग्य है कि समाधिस्थ होने से पूर्व चित्त में विक्षिप्तता रहती है और वह बार-बार बाह्य विषयों की ओर भागने

लगता है। उसका कारण सतोगुण की प्रधानता होते हुए भी रजोगुण का शेष रहना है। निरोध समाधिस्थ होने पर चित्त सभी विषयों से शून्य होकर एकाग्रता को प्राप्त होता है इस प्रकार जब उसके विक्षिप्तता के भाव दब जाते हैं और एकाग्रता प्रकट होने लगती है, वही समाधि का परिणाम कहलता है।

उस समाधि परिणाम का निरन्तर अभ्यास करने से जब चित्त का विक्षेप पूर्ण रूप से शान्त हो जाता है, और उसमें परिपक्वता आ जाती है, और उसमें शान्त एवं उदय होने वाली वृत्ति में भी समानता आ जाती है, तब उसे चित्त का एकाग्रता परिणाम कहते हैं यद्यपि इस अवस्था में भी चित्त वृत्तियाँ परिवर्तित होती रहती हैं, तो भी पहले जैसे विक्षेप से बची रहती हैं।

समाहित चित्त में जिस प्रकार की वृत्तियाँ लुप्त होती हैं, उसी प्रकार की उदय भी होती रहती हैं। समाधि परिणाम में संप्रज्ञात समाधि की स्थिति से पूर्व ही शान्त होने और उदय होने वाली चित्त वृत्तियों का भेद रहता है। परन्तु जब एकाग्रता परिणाम की स्थिति हो जाती है. तब वह वृत्ति भेद नहीं रहता है और चित्त को परिपक्व अवस्था हो जाती है।

इस प्रकार की वृत्ति और उसकी परिपक्वता होने पर ही सूक्ष्म बुद्धि का उदय होता है और उसके आश्रय से साधक आत्म-साक्षात्कार के जिस प्रयत्न में लगता है, उसकी उपलब्धि कठिन नहीं होती। इससे सिद्ध हुआ कि सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा समाधि अवस्था उत्पन्न होकर अन्त में 'ब्रह्म-साक्षात्कार की उपलब्धि होती है।

अन्नपूर्णोपनिषत् ने समाधिस्थ पुरुष को विदेहमुक्त की संज्ञा देते हुए कहा है—

विदेह मुक्तौ विमले पदे परम पावने।
विदेह मुक्ति विषये तस्मिन् सत्वक्षयात्मके।।
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किंचिदिह विद्यते।
न गुणा नागुणास्तत्र न श्रीर्नाश्रीर्त्र लोकता।।

न चोदयो नास्तमयो न हर्षमर्षि संविदः ।
न तेजो न तमः किंचिन्न सन्ध्यादि न रात्रयः ।।
न सत्ता नापिचासत्ता न च मध्यं हि तत्पदम् ।

अर्थात् विदेहमुक्त रूप जो निर्मल पद है, उसमें अन्तःकरण का क्षय होने की स्थिति प्राप्त होने पर विरूप नामक चित्त का नाश हो जाता है और फिर उसमें कुछ भी शेष नहीं रहता । गुण और औगुण का अभाव हो जाता है, लक्ष्मी या अलक्ष्मी भी नहीं रहती, लोक की स्थिति नहीं होती, उदय या अस्त भी नहीं होता, हर्ष या शोक पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है । फिर न तेज रहता है, न अन्धकार, सन्ध्या, दिवस या रात्रि भी नहीं होते, सत्ता या असत्ता नहीं होती और न वह पद ही किसी के मध्य में होता है ।

इसी उपनिषद् में आगे कहा है—बुद्धि द्वारा आडम्बर के पार पहुँचे हुए पुरुषों का ही वह प्रदीप्त स्थान है । उसमें दुःखों का अत्यन्त शमन हो जाता है, उसमें उड़ता नहीं रहती, आनन्द से व्याप्त रहता है, रजोगुण और तमोगुण का उसमें पूर्ण अभाव हो जाता है । जो आकाश कोश के समान सूक्ष्म, शरीर के मान और चित्त के अन्श से भी रहित हो चुके हों, ऐसे ही महापुरुषों को उस पद की प्राप्ति हो सकती है ।

और ऐसी उपलब्धि ही समाधि की श्रेष्ठ अवस्था है । उसे प्राप्त कर लेने वाला साधक ही परमात्मा से साक्षात्कार कर सकता है । जब तक समाधि की श्रेष्ठ अवस्था नहीं होती, तब तक वैसी उपलब्धि असम्भव है । उसके पश्चात की स्थिति और फल का निर्देश करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ।।

अर्थात्—'इस परात्पर परमात्मा के दर्शन होने पर हृदय की

गाँठ खुल जाती है, सभी संशय कट जाते हैं और सभी कर्मों का पूर्ण रूप से नाश हो जाता है।

और यह सभी उपलब्धियाँ गायत्री मन्त्र के साधक के लिए सुगम हैं। जब वह उसके मन्त्रार्थ में तन्मय होकर अपनी चित्त वृत्ति को तदाकार बना लेने में सफल हो जाता है, तब उसे सविता देव के दर्शन होते हैं। आत्मा के दर्शन होते हैं अथवा यह कहिये कि परमात्मा से साक्षात्कार हो जाता हैं।

उस अवस्था में साधक के सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। शुभ या अशुभ, कैसे भी कर्म शेष नहीं रहते। जैसे अग्नि सम्पूर्ण ईंधन को भस्म कर डालता है, वैसे ही गायत्री की प्रबल शक्ति सब कर्मों को भस्म करने में प्रभावकारी सिद्ध होती है।

कर्मों का वह पूर्ण विनाश मनुष्य के आवागमन को भी नष्ट करने में समर्थ है। क्योंकि कर्म और जन्म-स्मरण का साथ है। जब तक कर्म शेष रहते हैं, तब तक उनका भोगना अनिवार्य है। वही जन्म-मरण के परम कारण हैं, इसीलिए ज्ञानी पुरुष कर्मों को करते हुए भी उनके फल की इच्छा नहीं करते। उन्हें पूर्ण रूप से परमात्मदेव के लिए समर्पण कर देते हैं।

समाधि अवस्था में कर्मों का ही नहीं, आत्मा का भी समर्पण हो जाता है। जब चित्त वृत्ति ध्येयाकार होकर आत्म-साक्षात्कार करने लगती है, तब साधक आत्मामय होकर सभी विषयों से परे, सभी नाम रूपों से परे हो जाता है और तब उसे यही विश्वास होता है कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ' और यही विश्वास उसे आत्मा के द्वारा ही परमात्मा के दर्शन करा देता है।

समाधि के द्वारा जो आत्मज्ञान और आत्मदर्शन होता है, तब उसकी स्थिति होती है,उसके विषय में योगदर्शनकार की मान्यता है कि 'विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृतिः'(४।२५) अर्थात चित्त और आत्मा

के भेद को प्रत्यक्ष कर लेने वाले विशेषदर्शी पुरुष को आत्मभाव की भावना निवृत्त हो जाती है।'

उस अवस्था के प्राप्त होने पर चित्त का प्रवाह विवेक ज्ञान की ओर प्रवाहित होता है और तब वह कैवल्य प्राग्भाव के अभिमुख हो जाता है। चित्त के विवेक ज्ञान में निमग्न होने पर ही साधक को अपने आत्मा का रूप भासता है।

इस प्रकार जब निरन्तर विवेक ज्ञान प्रकाशमान रहता है, अविवेक के भाव लौटकर नहीं आ पाते तब फल की इच्छा से रहित उस साधक को धर्ममेघ नाम की समाधि होती है। इसी की पराकाष्ठा से 'पर वैराग्य' सम्पन्न होता है और जब ऐसा हो जाता है तभी निर्बीज समाधि हो सकती है।

जब उसे धर्ममेघ समाधि सिद्ध हो जाती है, तब उससे किसी भी वासना का लेश नहीं रहता। यही अवस्था जीवन्मुक्त कहलाती है। इसमें कर्माशय का पूर्ण अभाव होने पर विदेह स्थिति हो जाती है। उस समय साधक अनन्त ज्ञान से सम्पन्न होता है।

योगदर्शन (४.३२) में इसके बाद की अवस्था पर विचार व्यक्त करते हुए कहा गया है कि 'ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्' अर्थात् उसके पश्चात् कृतार्थ हुए गुणों के परिणाम की समाप्ति हो जाती है।'

अभिप्राय यह है कि धर्ममेघ समाधि के पश्चात् गुणों का कार्य जो भोग और मोक्ष है, उनका अन्त हो जाता है और तब उससे होने वाले परिणाम फल भी समाप्त हो जाते हैं। तब पुरुषार्थ से शून्य हुए गुणों का अपने कारण में लय हो जाने की जो अवस्था होती है, वही कैवल्य है। यही समाधि की अन्तिम अवस्था है, जो कि गायत्री-साधक को भी प्राप्त हो सकती है।

—:※:—

इच्छा शक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का साधक

गायत्री महामन्त्र

गायत्री में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों की शक्तियों का समावेश है, इसीलिए इसे त्रिदेवात्मिका मानते हैं। उन त्रिदेवों की शक्तियाँ प्राणियों में किन रूपों में विद्यमान रहती हैं। इस पर प्रकाश डालते हुए योगचूडामण्युपनिषत् ने कहा है—

इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रा स्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति॥

अर्थात्—इच्छा, क्रिया और ज्ञान रूप यह तीनों शक्तियाँ ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी हैं। यह तीनों मात्राएँ परम ज्योति स्वरूप ओंकार में सदा विद्यमान रहती हैं।

इच्छा शक्ति ही मनुष्य के चित्त में कर्म करने की प्रेरणा उत्पन्न करती है। यदि उसका अभाव है तो कोई कर्म हो ही नहीं सकता। कर्म का ज्ञान होते हुए भी उसका किया जाना पूर्णतया असम्भव है।

जब इच्छा शक्ति प्रेरणा करती है तब मनुष्य में ज्ञान शक्ति का उदय होता है। उसके उदय होने पर ही वह कर्म में लगता है। यदि उसका अभाव हो तो मनुष्य कोई भी कार्य करने में समर्थ नहीं हो सकता।

तीसरी ज्ञान शक्ति है। इसका कार्य कर्म का ज्ञान कराना है। कोई भी कर्म प्रारम्भ कर दिया जाय, किन्तु उसके विषय में पूरी जानकारी नहीं है तो किसी प्रकार भी उसकी सम्पन्नता सिद्ध नहीं हो सकती।

परन्तु, ओंकार में इन तीनों शक्तियों की विद्यमानता होने के कारण अकेले ओंकार का जप ही साधक में इन सभी शक्तियों को जाग्रत्

कर देता है। वस्तुतः यह तीनों ही शक्तियाँ प्रत्येक शरीर धारी में उसके जन्म से ही विद्यमान रहती हैं। परन्तु आरम्भ में वे सुप्त अवस्था में पड़ी रहती हैं। इसलिए उन्हें जगाने के लिए उपनिषत्कार ने ओंकार जप के रूप में एक श्रेष्ठ उपाय निर्दिष्ट किया है—

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति॥

अर्थात्—वाणी से उसका जप करे और शरीर से सदा उसका अभ्यास करे। मन से भी उसका जप करना चाहिए, क्योंकि वह ओंकार ही परम ज्योति स्वरूप है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र के आदि में लगाया जाने वाली प्रणव मन, कर्म और वचन, तीनों के योग से जपने का निर्देश है। अभिप्राय यह है कि मन कहीं और हो, शरीर अथवा कर्म किसी अन्ल प्रकार की मुद्रा में हो और वाणी उनसे भिन्न हो। या यों कहिये कि वाणी से ओंकार का जप करते हुए भी यदि मन कहीं अन्यत्र है और शरीर भी आलस्य में है, तो जप करना निरर्थक है। उससे कुछ लाभ होने वाला नहीं है।

मन, वचन, कर्म तीनों के समान योग में इच्छा, ज्ञान और क्रिया, तीनों शक्तियों की विद्यमानता रहती है। जापक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पूर्ण रूप से सजग रहता हुआ किसी एक को भी विपरीतार्थक न होने दे।

गायत्री के तीन पाद बताये जा चुके हैं। उनमें प्रथम है—'भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यम्' दूसरा भर्गो देवस्य धीमहि' और तीसरा है 'धियो यो नः प्रचोदयात्'। यदि इन तीनों के विषय में ध्यान पूर्वक विचार करें तो पायेंगे कि प्रथम पाद इच्छा शक्ति से संचालित है। क्योंकि उसके उच्चारण में हमारे मनमें इच्छा उत्पन्न होती है कि कि 'हम भूः भुवः स्वः रूप त्रैलोक्य का आनन्द प्राप्त करने के लिए उस सवित देव का वरण करें, क्योंकि वही वरण करने योग्य है।'

द्वितीय पाद में क्रिया शक्ति का समावेश है। क्योंकि 'हम उस देवता के भर्गः अर्थात् तेज का ध्यान करते हैं। इसमें ध्यान करना ही कर्म है जो कि क्रिया शक्ति का ही प्रतीक है। इस पाद का उच्चारण करते ही जापक को अपने कर्म का स्मरण होना स्वाभाविक ही है।

तीसरे पाद में ज्ञानशक्ति का भण्डार भरा है। हम परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! हमारी बुद्धि को शुभ कर्मों में प्रेरित करो। इसमें जिस वस्तु की याचना की गई है, वह ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। इस प्रकार, इस पाद का जप करते-करते साधक को ज्ञान की प्राप्ति होने लगती है।

इसका अभिप्राय यही हुआ कि गायत्री मन्त्र के जप से साधक को वे सभी उपलब्धियाँ हो सकती हैं, जो कि इच्छा क्रिया और ज्ञान-शक्ति से स्वतः प्राप्त हो जानी चाहिएं।

संसार में तीन 'भ' बहुव प्रसिद्ध हैं—भोक्ता, भोग्य और भगवान। इन तीनों का ज्ञान होना साधक के लिए अत्यावश्यक है। क्योंकि उनका ज्ञान होने पर सर्वज्ञान हो जाता है और फिर कुछ मी जानना शेष नहीं रहता।

श्वेताश्वतर उपनिषद् ने इस प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सव प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्' अर्थात् 'भोक्ता भोग्य और प्रेरितार (परमात्मा) इस प्रकार के तीनों भेद वाला मेरे मत में ब्रह्म ही है।

गायत्री मन्त्र से भी इस मन्तव्य की सिद्धि होती है। इसमें भोक्ता रूप से सविता, भोग्य रूप से शुभ कर्मों वाली बुद्धि और प्रेरितार अथवा परमात्मा वही देव है, जिसके तेज की प्रशस्ति की गई।

इसी उपनिषद् में उक्त तीनों का विस्तृत विवेचन भी दिया गया है। यथा—परमात्मा ही व्यक्त और अव्यक्त संसार का भरण पोषण करने वाला है और आत्मा इस संसार के विषयों का भोगने वाला होने

के कारण इसी से बँधा रहता है। भोगने वाले आत्मा को भोग्य प्रदान करने वाली प्रकृति उससे भिन्न है।

परन्तु, प्रकृति नाशवान है, इसका भोक्ता आत्मा अविनाशी है। वह परमात्मा इन दोनों को ही अपने अधीन रखता है। उसी परमेश्वर में चित्त लगाने से प्राणी अन्त में उसी को प्राप्त कर लेता है।

और वैसा होने पर माया का लोप हो जाता है। किन्तु यह ज्ञान से ही सम्भव है। जब तक माया और ब्रह्म का पृथक-पृथक ज्ञान नहीं हो जाता, तब तक बुद्धि पर अज्ञान का ही आवरण पड़ा रहता है। उसे हटाने में भी गायत्री मन्त्र अत्यन्त प्रभावशाली होता है। क्योंकि उसमें बुद्धि को ज्ञान से परिपूर्ण करने की ही याचना रहती है।

इस प्रकार गायत्री मन्त्र से सभी कामनाएँ पूर्ण होतीं और सर्व शक्तियों की उपलब्धि होती है। यह सभी विद्वान मानते हैं कि गायत्री मन्त्र सभी मन्त्रों में श्रेष्ठ और सर्वोपरि है। उसके द्वारा की जाने वाली साधना ही गायत्री योग है और मानव-कल्याण में गायत्री-योग के समान अन्य कोई श्रेष्ठ साधन नहीं है। इसलिए साधकों को गायत्री-योग परायण होना ही श्रेयस्कर है।

———

कान्ता प्रिन्टिंग प्रेस, जनरल गंज मथुरा।

उत्कृष्ट व मौलिक भारतीय-ग्रन्थ

१—मंत्र-महाविज्ञान ४ खण्ड	...	३२)
२—मंत्र योग	...	८)
३—वैदिक मंत्र विद्या	...	८)
४—मंत्र शक्ति से रोग निवारण	...	५)७५
५—मंत्र शक्ति से विपत्ति निवारण	...	५)७५
६—मंत्र शक्ति से कामना सिद्धि	...	५)७५
७—मंत्र शक्ति के अद्भुत चमत्कार	...	३)७०
८—ओंकार सिद्धि	...	५)७५
९—तंत्र महाविज्ञान ४ खण्ड	...	३)
१०—तंत्र महासाधना	...	१०)
११ · शारदा तिलक	...	१०)
१२—लक्ष्मी सिद्धि	...	८)७५
१३—उपासना महाविज्ञान	...	९)
१४ - देव रहस्य	...	९)
१५—विष्णु रहस्य	...	९)
१६—शिव रहस्य	...	९)
१७—हस्तरेखा महाविज्ञान	...	१०)
१८—ज्ञानेश्वरी भगवद्गीता	...	१०)
१९—प्राणायाम के असाधारण प्रयोग	...	५)७५
२०—दास बोध	...	७)५०
२१—षोडश संस्कार विधि	...	५)७५
२२—दृष्टान्त सरित सागर	...	८)५०
२३—क्रान्ति पथ के पथिक	...	७)
२४—शक्ति सम्राट कैसे बनें	...	३)५०
२५—चिन्तायें कैसे दूर हों ?	...	३)५०
२६—देवता कैसे बनें ?	...	३)५०
२७—सुन्दर कैसे बनें ?	...	३)५०

प्रकाशक :— संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, वेदनगर,
बरेली-२४३००१ (उ० प्र०)

4163, नई सड़क दिल्ली-6